॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

(श्रीशाङ्करभाष्यानुसारिभाषानुवादसहित)

१००८ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीहरिहरानन्द
सरस्वती 'श्री करपात्रीजी' के शिष्य स्वामी
अनन्तानन्द सरस्वती

मूल्य २.२५ (दो रुपये पचीस पैसे)

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

(श्रीशांकरभाष्यानुकारिभाषानुवादसहित)

१००८ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती
श्री'करपात्री'जीके शिष्य स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती

मूल्य २·२५ दो रुपये पचीस पैसे

प्रकाशक
बाबू रघुवंशसिंह
गाँव—पचरुखिया, पो०—नगवांगढ़ (गया)

संवत् २०३०, प्रथम संस्करण १०००

मिलनेका पता—
स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती
डी. २५।१८, अन्नपूर्णा क्षेत्र, नारदघाट, वाराणसी

श्रीहरिः

१००८ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती श्री'करपात्री'जी महाराजका आशीर्वाद

सम्पूर्ण वेदोंका सार उपनिषद् है। उपनिषदोंका सार-सर्वस्व श्रीमद्भगवद्गीता है, अतएव वेदार्थ-सार-सर्वस्व ही गीतार्थ है। निष्काम कर्मयोग साधननिष्ठा है, सर्वकामसंन्यासपूर्वक ब्रह्मात्मसाक्षात्कार ही साध्यनिष्ठा है—इस अभिप्रायका सामस्त्येन वर्णन शांकरभाष्यमें वर्णित है। स्वामी अनन्तानन्द सरस्वतीने शांकरभाष्यका सार-संकलन करते हुए हिन्दी-भाषामयी टीका लिखी है। आशा है, इससे जिज्ञासुओंको परमलाभ होगा।

करपात्र स्वामी

दो शब्द

(पं० श्रीबदरीनाथ शुक्ल एम० ए०, न्याय-वेदान्ताचार्य,
प्राध्यापक—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

मनुष्य सृष्टिका सर्वोत्तम प्राणी है, परमेश्वरकी सर्वश्रेष्ठ रचना है किन्तु उसकी सर्वोत्तमता और सर्वश्रेष्ठता इसलिये नहीं है कि वह अच्छा भोजन कर सकता है, अच्छे कपड़े पहन सकता है, अच्छे भवनमें रह सकता है, अच्छा धन कमा सकता है, अच्छे पद और अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है, अच्छे ग्रन्थ लिख सकता है, अच्छा व्याख्यान दे सकता है, भोगके अच्छे साधनोंका विकास कर और संहारके भीषण शस्त्रास्त्रोंका सृजन कर संसारका कायापलट कर सकता है; किन्तु उसकी उत्तमता और श्रेष्ठता इस बातमें है कि वह संसारसे घृणा, द्वेष, शोषण और सङ्घर्षकी समाप्ति तथा सद्भाव, सौहार्द, बन्धुता और शान्तिकी स्थापनाद्वारा पूरी मानवजातिमें एकत्वकी भावना प्रतिष्ठित कर मानवताको निर्दुःख, निरातङ्क और सुखी बनानेके लिये सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर सकता है।

पर मनुष्यमें इस प्रवृत्तिका उदय तबतक नहीं हो सकता जबतक जीवनके लक्ष्यके सम्बन्धमें उसका दृष्टि स्पष्ट नहीं हो जाती और जबतक वह भौतिक शक्ति एवं उससे उपलब्ध होनेवाले व्यापक प्रभुत्वपर आधारित आत्मतुष्टिमें ही जीवनकी सार्थकता और चरितार्थता माननेको भूल नहीं छोड़ देता।

'वसुधैव कुटुम्बकम्'की उदात्त भावना और सम्पूर्ण मानवताके हितमें आत्मत्यागकी प्रवृत्तिका उदय होनेके लिये मनुष्यको अपने संकीर्ण व्यक्तित्वको समष्टिमें बिखेरना होता है, अपनी सीमित, संकुचित अहन्ता और ममताको विश्वव्यापी बनाना होता है, अपनी वास्तविकता

समझनी होती है, अपने आत्मस्वरूपका तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होता है। ऐसा किये विना मनुष्य अधर्मसे विमुख हो धर्म-पथपर आरूढ नहीं हो सकता, अपने उचित कर्तव्यके पालनकी दिशामें अग्रसर नहीं हो सकता, जो उसे जानना है और जो उसे पाना है, उसकी ओर वह अभिमुख नहीं हो सकता।

महाभारत युद्धके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस सत्यका ही उद्‌बोधन किया था। श्रीमद्भगवद्‌गीता जो सभी वेदों, उपनिषदों और शास्त्रोंका सार-संग्रह है, उसमें इस तथ्यका ही सङ्केत सर्वत्र उपलब्ध होता है, उसका स्पष्ट उद्घोष है कि शोक, मोह, काम, क्रोध आदि मनोभाव मनुष्यके विकास-पथके रोड़े हैं, उनका पूर्णतया निराकरण कर तथा अज्ञानमूलक समस्त आसक्तियोंका परित्याग कर लोकहितके लिये निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए आत्मतत्त्वका ज्ञानार्जन करना ही मनुष्यके आत्मोत्थानका राजमार्ग है।

गीताके इस महान् शाश्वत सन्देशको अपने जीवनमें उतारना और जनसामान्यतक इसे पहुँचाना प्रत्येक विवेकशील शिक्षित व्यक्तिका कर्तव्य है। श्रद्धेय अनन्तानन्द स्वामीजीने भगवद्‌गीताकी प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या लिखकर अपने इस आवश्यक कर्तव्यका ही पालन किया है। भगवान् आद्य शङ्कराचार्यने भगवद्‌गीतापर भाष्य लिखकर जिन शास्त्रीय सिद्धान्तोंको प्रतिष्ठित किया है, प्रस्तुत व्याख्यामें उन्हें बड़ी सरलतासे सुगम किया गया है। जिन्हें संस्कृतका विशेष ज्ञान प्राप्त करने तथा गीताके शाङ्करभाष्यको हृदयङ्गम करनेका अवसर नहीं मिल पाता, उनके लिये यह व्याख्या स्वामीजीका अपूर्व वरदान है।

इस महान् लोकोपयोगी कार्यके लिये मैं स्वामीजीको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी सिद्ध लेखनीसे भविष्यमें भी ऐसे ग्रन्थ जनताको सुलभ होते रहेंगे।

|| श्रीः ||

प्राक्कथन

शरणं तरुणेन्दुशेखरः शरणं मे गिरिराजकन्यका ।
शरणं पुनरेव तावुभौ शरणं नान्यमुपैमि दैवतम् ॥

गीता समस्त वेदार्थका सार है । वेदमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दो धर्मोंका वर्णन है । इनमें प्रवृत्तिधर्मके पालनसे अभ्युदय और निवृत्ति-धर्मके पालनसे निःश्रेयस—मोक्ष प्राप्त होता है, अर्थात् अनादिकालसे अविच्छिन्न जन्म-जरा-मरणादिके भयसे रहित होकर जीव परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है । इन्हीं दोनों धर्मोंका गीतामें भगवान् वासुदेवने योगबुद्धि और सांख्यबुद्धिके नामसे वर्णन किया है—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'—इत्यादि । सांख्यबुद्धिका अर्थ है—सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठा, इसीका नाम निवृत्तिधर्म है । दूसरी है योगबुद्धि । गीतामें भगवान्ने कामनारहित प्रवृत्तिधर्मको योगबुद्धिके नामसे कहकर उसे सांख्यबुद्धि—निवृत्तिधर्मका साधन बतलाया है ।

सकाम प्रवृत्तिधर्मका ही फल संसार है, इसमें समस्त कर्म और सकाम उपासनाका अन्तर्भाव हो जाता है । केवल कर्मसे पितृलोककी प्राप्ति होती है—'कर्मणा पितृलोकः' और सकाम उपासनासहित कर्मसे देवादि ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है—'विद्यया देवलोकः' । कर्मके चार भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक, सकाम और निषिद्ध । इनमें निषिद्ध कर्मसे अधोगति होती है, शेष नित्य आदि कर्मोंका सकाम भावसे पालन करनेपर भी जीव अधोगतिसे बचकर उत्तम लोक प्राप्त करता है । धर्मके पालनसे ही संसारकी स्थिति बनी

रहती है, किंतु धर्म-पालनमें त्रुटि होनेपर अराजकता फैल जाती है। अराजकता होनेपर अनेक प्रकारके अनाचार-पापाचारमें लोगोंकी प्रवृत्ति होने लगती है: सारा जन-जीवन ही दुःखमय हो जाता है। कहा भी है—

स्थापयिष्यमिमं धर्मं प्रयत्नेनापि भो द्विज।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं जगत्॥

यद्यपि प्रवृत्तिधर्मका फल संसार ही है, तथापि कामनारहित भगवदर्पणबुद्धिसे करनेपर यह अपने स्वभाव—संसार-प्राप्तिरूप फलको त्यागकर अन्तःकरण-शुद्धिद्वारा सांख्यबुद्धि याने सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करा देता है। इसीको कर्मका कौशल कहा है—'तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्', 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'—इत्यादि। समस्त वेदार्थ इसीमें समाप्त होता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजी गीताके चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें लिखते हैं—

"योऽयं योगोऽध्यायद्वयेनोक्तो ज्ञाननिष्ठालक्षणः ससंन्यासः कर्मयोगोपायो यस्मिन् वेदार्थः परिसमाप्तः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। गीतासु च सर्वास्वयमेव योगो विवक्षितो भगवता। अतः परिसमाप्तं वेदार्थं मन्वानस्तं वंशकथनेन स्तौति श्रीभगवान्।"

इसलिये यह गीता वेदार्थ-सार है तथा स्वयं भगवान् वासुदेवके मुखसे निर्गत है अतः दुर्विज्ञेय है। इसका वास्तविक अर्थ तो भगवान् ही जानते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥
(भागवत० स्क० ११, अं० २१, श्लो० ४२)

'श्रुति कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासनाकाण्डमें किनका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन विषयोंका अनुवाद करके उनका

विकल्प करती है—इस रहस्यको मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं जान सकता है।'

श्रुति भी यही कहती है—'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।' अथवा दूसरा वह व्यक्ति जान सकता है जिसको भगवान् जना दें—'सोइ जानै जेहि देहु जनाई।'

इस गीताका अर्थ पद-पदार्थ एवं वाक्यार्थके जाननेवाले बड़े-बड़े महापुरुषोंने अपनी-अपनी टीकाओंमें अनेक प्रकारसे व्यक्त किया है। ऐसे महान् तात्पर्य-विशिष्ट ग्रन्थ—गीताके भाष्यका अर्थ लिखना मुझ-जैसे साधारण व्यक्तिका काम नहीं है, तथापि 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥'—इस न्यायसे यथामति श्रीशांकरभाष्यका अर्थ लिखकर इसे परमपूज्य गुरुदेव श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ १००८ स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी सरस्वती श्री'करपात्री'जी महाराजके चरणोंमें समर्पित करता हूँ। बालकोंकी त्रुटि बड़े लोग क्षमा ही करते हैं।

इस पुस्तकके प्रकाशनमें मेरे अत्यन्त प्रेमी स्वर्गीय सेठ बाबू परमेश्वरलालजी खेमकाके ज्येष्ठ पुत्र बाबू परमानन्दजीने अपने सभी भाइयोंके साथ बड़ी सहायता की है, उनमें भी बाबू श्यामसुन्दरजीकी श्रद्धा तो अत्यन्त सराहनीय है। एवं बाबू रघुवंशसिंहजीने तो इसके प्रकाशनमें जो भी न्यूनता हुई उसको पूर्ण करना ही अपना कर्तव्य समझकर बहुत सेवा की है। इनके सिवा जिन-जिन मुद्रक महानुभावोंने तथा प्रेमी सज्जनोंने तन-मनसे इसमें पूरा सहयोग किया है, उनको कभी भुलाया नहीं जा सकता। भगवान् इन सभी सज्जनोंका कल्याण करें।

—अनन्तानन्द सरस्वती



मुद्रक-गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमुरली मनोहर

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीशांकरभाष्यके उपोद्‍घातका सारांश

नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥

'नारायण—सर्वाश्रय, कारणार्णवशायी अव्यक्तसे पर है—'*अव्यक्तात्पुरुषः परः*' यह श्रुति है। एवं अव्यक्त प्रकृतिसे ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, इसी ब्रह्माण्डके अन्तर्गत भूरादि लोक हैं और भूलोकके भीतर सप्तद्वीपवाली पृथिवी है।'

भगवान्—ऐश्वर्यादि गुण-सामग्रीसम्पन्न ईश्वरने समस्त जगत्‌की सृष्टि करके इसका पालन स्थिर बना रहे—इस उद्देश्यसे प्रथम मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न करके वेद-प्रतिपादित प्रवृत्तिलक्षण धर्मोंका उपदेश किया। तदनन्तर सनकादियोंको ज्ञान-वैराग्यलक्षणवाले निवृत्ति-धर्मका आदेश दिया। इन वेदोक्त दो प्रकारके प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षणवाले धर्मसे जगत्‌की स्थिति और जीवमात्रका कल्याण होता है; ये ही दो धर्म अभ्युदय और निःश्रेयसके कारण हैं। पहला अभ्युदयका कारण है, इसीको अवलम्बन करके ब्राह्मणादि वर्ण एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमवाले समस्त जगत्‌का कल्याण करते रहते हैं। इसलिये समस्त वर्णाश्रमियोंको प्रवृत्तिलक्षण धर्मका अवश्य पालन करना चाहिये।

जब कामनाओंके बढ़नेसे मनुष्योंकी भोगमें प्रवृत्ति होती है, तब विवेक-विज्ञानका ह्रास हो जाता है। इससे वैदिक प्रवृत्ति-लक्षण धर्मका धीरे-धीरे त्याग होने लगता है। जब धर्म-त्यागसे अधर्ममें प्रवृत्ति बढ़ती है, तब संसारमें मात्स्यन्याय चलने लगता है अर्थात् जैसे बड़े मत्स्य छोटी मछलीको खाने लगते हैं, वैसे ही बलवान् दुर्बलको सताने लगते हैं। इस प्रकार अधर्मसे संसारकी

स्थितिमें उथल-पुथल मचती रहती है। उसी धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होनेपर जगत्-रक्षार्थ आदिनारायण भगवान् विष्णु श्रीवसुदेवजीसे देवकीके गर्भमें अपने अंशसे श्रीकृष्ण रूपमें प्रकट हुए।

ब्राह्मणकी रक्षा होनेसे वैदिक धर्मकी रक्षा हो जाती है, क्योंकि ब्राह्मणके अधीन वेद हैं, वेदसे ही वर्णाश्रमकी रक्षा होती है—

देवाधीनं जगत् सर्वं मन्त्राधीनं च देवताः।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद्ब्राह्मणदेवताः॥

भगवान् यद्यपि अज, अव्यय, समस्त भूतोंके ईश्वर, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हैं, तथापि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदिसे सम्पन्न वे भगवान् त्रिगुणात्मिका अपनी वैष्णवी मायाशक्तिको अपने अधीन करके लीलासे देहवान्के समान उत्पन्न हुए-से और जीवोंपर दया करते हुए-से दीख पड़ते हैं।

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं विभो॥

'हे विभो! आप निष्प्रपञ्च—प्रपञ्चातीत होते हुए भी शरणागतजनोंके आनन्द-समूहका विस्तार करनेके लिये भूतलमें प्रपञ्चकी विडम्बना करते हैं।'

स्वयं तो भगवान् निष्काम, पूर्णकाम, आत्माराम हैं, तो भी भूतोंपर दया करके 'विशिष्ट गुणवान्के द्वारा गृहीत एवं आचरित ही धर्म विस्तार प्राप्त करता है'—ऐसा विचारकर उन्होंने शोक-मोहरूप महासमुद्रमें मग्न अर्जुनसे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकारके धर्मोंका उपदेश दिया।

भगवान् वासुदेवके यथोपदिष्ट धर्मोंको सर्वज्ञ महर्षि वेद-व्यासजीने सात सौ श्लोकोंमें ग्रन्थन करके 'गीता'के नामसे

संसारमें प्रचार किया है। यह गीता समस्त वेदार्थका सार-संग्रह है, इसको समझना बड़ा दुर्विज्ञेय है। यद्यपि इसका अर्थ जाननेके लिये विशिष्ट व्यक्तियोंने पद, पदार्थ, वाक्यार्थ, आक्षेप और समाधानपूर्वक बड़ी-बड़ी विस्तृत व्याख्याएँ लिखी हैं, तो भी लौकिक साधारण मनुष्योंके द्वारा इसका अर्थ अत्यन्त विरुद्ध ग्रहण करते देखकर विचारपूर्वक यथार्थ अर्थ निश्चय करके सर्वसाधारणके कल्याणके उद्देश्यसे संक्षेपमें व्याख्या की जाती है।

समस्त वेदान्तका प्रयोजन दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति ही कही गयी है। यही प्रयोजन इस गीता-शास्त्रका भी है, इसीलिये कहा है—'*सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।*' शोक-मोहके समुद्रमें निमग्न अर्जुनका उद्धार करनेके लिये ही इसका उपदेश हुआ है और समस्त वेदान्तका भी यही आशय है—'*तत्र को मोहः कः शोकः*', '*ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति*', '*तरति शोकमात्मवित्*' इत्यादि।

यही मनुष्यके लिये परम कल्याण है कि कारणसहित अविद्याकल्पित संसारकी उपरति हो जाय, इसीका नाम मोक्ष है, यही जीवका परमपुरुषार्थ है। यह एकमात्र ब्रह्मात्मैकत्व-बोधसे ही होता है, यहाँ ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान होनेपर अविद्याकल्पित संसार स्वप्नवत् हो जाता है। इसीको गीताशास्त्रमें सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठा कहा गया है, इसके साधनरूप निष्काम भावपूर्वक प्रवृत्तिलक्षण धर्मके सेवनसे अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होती है—यह कहा गया है। इसीमें प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दोनों धर्मोंकी सफलता हो जाती है। इसी धर्मको लक्ष्य करते हुए अनुगीतामें भी भगवान्ने कहा है—'*स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने*'

अर्थात् ब्रह्मपद (मोक्ष) जाननेके लिये ज्ञाननिष्ठारूप धर्म ही पर्याप्त है । और यह भी कहा है—

नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी ।
यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन् ॥

'जो न धर्मी न अधर्मी एवं न शुभाशुभी है तथा जो कुछ भी चिन्तन नहीं करता हुआ तूष्णीं भावसे एकमात्र सर्वाधारमें लीन है, वह उसको ही प्राप्त है ।'

तथा—'*ज्ञानं संन्यासलक्षणम्*' 'ज्ञानका लक्षण संन्यास है ।' यह बताया गया है । यहाँ गीतामें भी अन्तमें अर्जुनसे भगवान्ने कहा है—'*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।*' यद्यपि लौकिक उन्नतिके लिये वर्णाश्रमियोंके उद्देश्यसे जो प्रवृत्तिलक्षण धर्म कहा गया है इसका फल स्वर्गादि-प्राप्ति ही है, तथापि वह कामनारहित भगवदर्पणबुद्धिसे किये जानेपर अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति कराकर मोक्षका भी कारण होता है; अतः परम्परया प्रवृत्तिरूप धर्म भी कल्याणका कारण है । इसी बातको आगे भी कहेंगे—'*ब्रह्मण्याधायकर्माणि*', '*योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये*'—'सब कर्मोंको ब्रह्ममें समर्पण करके', 'आत्मशुद्धिके लिये योगीलोग सङ्गका त्याग करके कर्म करते हैं' ।

निःश्रेयस—मोक्ष ही परमप्रयोजन है जिनका ऐसे दो प्रकारके प्रवृत्ति तथा निवृत्ति-धर्मोंका और इन दोनों धर्मोंके परम लक्ष्य परमार्थतत्त्व वासुदेव नामक परब्रह्मका बोधक होनेसे यह गीताशास्त्र विशिष्ट प्रयोजन, सम्बन्ध और विषयवाला कहा गया है ।

इस गीताका यथार्थ ज्ञान होनेपर समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो जाती है । इसीलिये इसकी व्याख्या करनेके लिये यत्न किया जाता है ।

श्रीगणेशाय नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

(श्रीशांकरभाष्यानुसारिभाषानुवादसहित)

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—हे संजय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे समवेत मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधन सेनाकी व्यूह-रचनाके कौशलको देखकर द्रोणाचार्यके समीप जाकर बोले—॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्यचरण ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्रके द्वारा पाण्डवोंकी महती सेनाके रचित व्यूहको देखें ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

युद्धमें भीम एवं अर्जुनके समान पराक्रमी महाधनुर्धर सात्यकि, विराट्, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरवर शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४–६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम ! हमारी सेनामें जो विशिष्ट सेनापति हैं, उनके भी नाम आपके जाननेके लिये कहता हूँ ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

आप, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सौमदत्ति—भूरिश्रवा तथा और भी—॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्य बहुत-से शूरवीर मेरे लिये जीवन त्यागकर नाना प्रकारके शस्त्र धारणकर तैयार हैं और वे सब युद्धविशारद हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

भीष्मसे रक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है तथा भीमसे रक्षित पाण्डवोंकी सेना पर्याप्त है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

फिर भी आपलोग सभी यथास्थानपर स्थित होकर भीष्मकी ही रक्षा करें ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

दुर्योधनको प्रसन्न करते हुए कुरुओंमें वृद्ध प्रतापवान् पितामहने सिंह-गर्जन करके शंख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

भीष्मके शंख बजानेके अनन्तर एक साथ ही शंख, नगारे, ढोल, मृदंग आदिके भयंकर शब्द हुए ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

तदनन्तर श्वेत अश्वसे युक्त महान् रथपर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने भी अपने दिव्य शङ्खोंको बजाया ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य और धनंजयने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया तथा भीमकर्मा वृकोदरने पौण्ड्र नामक शङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष और सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र! महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट्, विजयी सात्यकि, द्रुपद तथा

द्रौपदीके पुत्र और महाबाहु सुभद्राके पुत्र अभिमन्यु आदिने पृथक्-पृथक् अपने शङ्ख बजाये ।। १७-१८ ।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१९।।

पाण्डवोंका किया हुआ वह तुमुल नाद आकाश तथा पृथिवीको गुँजाता हुआ धृतराष्ट्रपुत्रोंके वक्षःस्थलोंको चूर-चूर करने लगा ।। १९ ।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

हे पृथिवीपते ! शस्त्र-सम्पातमें धार्तराष्ट्रोंको व्यवस्थित देखकर कपिध्वज अर्जुनने धनुषको उठाकर भगवान् श्रीकृष्णसे यह वाक्य कहा ।। २०½ ।।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! दोनों सेनाओंके मध्यमें रथ ले चलें ।। २१ ।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।।२२।।

युद्धकी कामनासे व्यवस्थित इन लोगोंको मैं देखूँ कि किनसे मुझे इस रणभूमिमें युद्ध करना है ।। २२ ।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

इस युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छावाले युद्ध करनेकी इच्छासे आये हुए वीरोंको मैं देखना चाहता हूँ ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

संजयने कहा—हे भारत ! गुडाकेश—गुडाका (निद्रा) को जीतनेवाले अर्जुनसे ऐसे कहे जानेपर भगवान् कृष्ण दोनों सेनाओंके बीच रथ खड़ा करके; ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

भीष्म एवं द्रोणाचार्य जिसमें प्रमुख हैं ऐसे समवेत—इकट्ठे हुए समस्त राजाओंके सहित कौरवोंको दिखाते हुए बोले—हे पार्थ ! इन कौरवोंको देखो ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

वहाँ अर्जुन दोनों सेनाओंमें खड़े हुए अपने चाचा, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, भाईके पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर और सुहृदोंको तथा समस्त बन्धु-बान्धवोंको व्यवस्थित देखकर अत्यन्त करुणासे युक्त दुःखित होता हुआ यह बोला ॥ २६-२७½ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! युद्ध करनेकी इच्छासे समुपस्थित स्वजनोंको देखकर मेरा शरीर विशीर्ण हो रहा है और मुख सूख रहा है तथा शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहे हैं ॥२८-२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथसे गाण्डीव छूटता जा रहा है, त्वक् अत्यन्त जल रहा है, मेरा मन घूम रहा है, मैं खड़ा होनेमें भी असमर्थ हूँ ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव ! युद्धमें अपने स्वजनोंको मारकर कल्याण नहीं देखता हूँ । इसका परिणाम विपरीत ही दिखाई देता है ॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण ! विजय, राज्य और सुख मैं नहीं चाहता । हे गोविन्द ! मुझे राज्य, भोग अथवा जीवनसे भी क्या लाभ ॥३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

जिन आचार्य, पितर, पुत्र, पितामह, मातुल, श्वशुर, पौत्र, श्याला और सम्वन्धियोंके लिये राज्य, भोग और सुखकी चाहना है, वे सव तो प्राण और धनको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३-३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन ! मारे जानेपर भी इनको मैं मारनेकी इच्छा नहीं करता तथा तीन लोकोंके राज्यके लिये भी इन सम्बन्धियोंको नहीं मारना चाहता, फिर साधारण पृथिवीके राज्यके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! आततायी धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? वल्कि पाप ही होगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

माधव ! अपने वान्धव और धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारना योग्य नहीं है, स्वजनोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभसे इनकी बुद्धिमें विवेकशक्ति नष्ट हो गयी है अतः कुलक्षयकृत दोष और मित्रद्रोहमें पापको नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयकृत दोषको देखते हुए हम लोग इस पापसे निवृत्त क्यों नहीं होते ? ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलके नष्ट होनेपर सनातनसे चला आता हुआ कुलधर्म विनष्ट होगा और कुलधर्मके नष्ट होनेसे अधर्म बढ़ने लगेगा ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण ! अधर्म बढ़नेसे कुलीन स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं तथा स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

वे वर्णसंकर कुलघातियोंको तथा जिस कुलमें उत्पन्न होते हैं उस कुलको नरकमें ले जाते हैं, क्योंकि पितरोंके पिण्ड-दान

और जल-क्रिया लुप्त होनेसे इनके पितरलोग नरकमें गिर जाते हैं ।। ४२ ।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४३।।

ऊपर कहे गये संकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके जाति-धर्म और सनातन कुलधर्मका विनाश हो जाता है ।। ४३ ।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

हे जनार्दन ! सनातन कुलधर्म जिनके नष्ट हो गये हैं ऐसे मनुष्योंका नरकमें वास अवश्य होता है—यह हमने सुना है ।। ४४ ।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

अहो ! आश्चर्य है कि राज्य-सुखके लोभसे हमलोगोंने महान् पाप करनेका निश्चय कर रखा है, जो कि स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हैं ।। ४५ ।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

शस्त्रसे प्रतीकार न करनेवाले शस्त्ररहित मुझको यदि शस्त्र धारण करनेवाले ये धृतराष्ट्रपुत्र रणभूमिमें मारें तो मेरा कल्याण ही होगा ।। ४६ ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय बोला—इतना कहकर अर्जुन धनुष-बाण छोड़कर शोकसे व्याकुलचित्त हो, रणभूमिमें रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोला—करुणासे युक्त, अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रवाले, अत्यन्त खेदखिन्न अर्जुनसे मधुसूदन—भगवान् कृष्ण यह बोले ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन! अनार्योंसे सेवित, नरकमें ले जानेवाले, कीर्तिके नाशक इस विषम कालमें यह महामोह—पाप तुझमें कहाँसे उपस्थित हो गया ? ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! कापुरुषता मत प्राप्त करो । तुम्हारे योग्य यह नहीं है । हृदयकी क्षुद्र—तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर उठो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन ! पूजाके योग्य भीष्म और द्रोण-से मैं रणमें बाणोंसे कैसे युद्ध करूँगा ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्-
छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इहलोकमें गुरुजनोंको मारकर रुधिरसे लथपथ अर्थ एवं भोग भोगनेकी अपेक्षा इनको न मारकर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करनेमें कल्याण होगा ॥ ५ ॥

दूसरी बात यह कि—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

मुझको क्या करना उचित है—मैं यह भी नहीं जानता हूँ। तथा इनको हम जीतेंगे अथवा हमको ये लोग जीतेंगे ? जो धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे आगे अवस्थित हैं इनको मारकर हम जीना ही नहीं चाहते हैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

मैं आपका शिष्य हूँ, एवं शरणापन्न हूँ, कार्पण्य (दैन्य) —उचित त्यागसे विमुखतारूप दोषके कारण दूषित स्वभाव होनेसे धर्ममें मोहितचित्त मैं आपसे पूछता हूँ। जिसमें मेरा कल्याण हो सो निश्चय करके कहें ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

मेरी इन्द्रियोंके शोषण करनेवाले शोकको दूर करनेवाला देवताओंका भी आधिपत्य नहीं है, सपत्नरहित समृद्ध पृथिवीके राज्यका तो कहना ही क्या, अर्थात् त्रैलोक्यका राज्य भी मेरा शोक दूर नहीं कर सकता। अतः जिससे मेरा शोक दूर हो सो कृपा करके कहें। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इससे सम्बन्ध जुड़ा हुआ जानना चाहिये ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोला—हे परंतप—धृतराष्ट्र ! गुडाकेश—अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे उपर्युक्त बात कहकर पुनः 'मैं नहीं लड़ूँगा' ऐसा कहकर चुप हो गया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत ! प्रिय स्वजनोंके विनाशके भयसे उत्पन्न होनेवाली मनोवृत्तिका नाम है विषाद, उस विषादसे युक्त मनवाले अर्जुनसे दोनों सेनाओंके मध्यमें हँसते हुए-से भगवान् बोले ॥ १० ॥

'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इस श्लोकसे आरम्भ करके 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा' इस श्लोकतकका अर्थ ऐसा कर लेना चहिये कि यह प्रकरण प्राणियोंके संसारके बीजभूत शोक-मोहादि दोषोंको दिखानेके लिये है ।

यहाँ यह जानना चाहिये कि अर्जुन पहले तो स्वयं ही क्षात्र-धर्मस्वरूप युद्धमें प्रवृत्त हुआ था; किन्तु जब दोनों सेनाओंमें अपने सगे-सम्बन्धी, गुरु, पुत्र, मित्र, सुहृद् आदिको युद्धमें खड़े देखा तो 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' इस प्रकार भ्रान्ति—अज्ञान-जनित स्वजनोंके स्नेह-विच्छेद, वियोग आदिके कारण शोक उत्पन्न हो गया ।

इष्ट स्वजनादिके वियोग-भयसे उत्पन्न होनेवाली मनकी विकलताको शोक कहते हैं । शोकके कारण ही मोह—अज्ञान

होता है, यह अज्ञान ही अविद्या है। अतः मोह होनेपर मनोवैकल्यके कारण कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नष्ट हो जाता है।

शोक-मोहसे विवेकज्ञान दव जानेपर अपना क्षात्रधर्म छोड़कर दूसरेके धर्म भिक्षासे जीवन-निर्वाह करनेको अर्जुन तैयार हो गया—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।'

इसी प्रकार जिनका शोक-मोहादि दोषसे अर्थात् 'अहंता-ममता' के कारण विवेक नष्ट हो गया है, वे सभी प्राणी अपने स्वधर्मको त्यागकर निषिद्ध धर्मका सेवन करने लगते हैं।

यदि वे स्वधर्ममें प्रवृत्त हों, तो भी उनके मन, वाणी और शरीरादिकी प्रवृत्ति फलाभिसंधि—फलकी इच्छापूर्वक और साहंकार होती है।

इसीलिये अहंकारपूर्वक और फलाभिसंधिसे युक्त प्रवृत्ति होनेसे धर्माधर्म—पुण्य-पाप दोनों होते रहते हैं, तथा धर्माधर्म भोगनेके लिये वार-वार शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार संसारकी निवृत्ति नहीं होती। अतः ये शोक-मोह ही संसारके वीज हैं, इनको दूर करना ही परम पुरुषार्थ कहा गया है।

सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञानके विना शोक-मोहकी निवृत्ति किसी अन्य उपायसे नहीं हो सकती है, अतः सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञानका उपदेश करनेकी इच्छासे समस्त जीवोंपर दया करके भगवान् वासुदेव अर्जुनको निमित्त वनाकर वोले—'अशोच्यान्' इत्यादि।

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि "केवल सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठासे निर्वाण—मोक्ष नहीं हो सकता, किन्तु अग्निहोत्रादि श्रौत-स्मार्त कर्म-सहित ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। यही समस्त गीताका अर्थ है।' और इसकी पुष्टिमें

यह प्रमाण भी देते हैं—'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि', 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं' इत्यादि। हिंसायुक्त वैदिक कर्मसे पाप होगा—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि क्षत्रियोंका युद्धरूप कर्म, जो गुरु-भ्रातृ-पुत्रादि-हिंसा-लक्षणवाला अत्यन्त क्रूर होनेपर भी क्षत्रियोंका स्वधर्म है। अतः इसके पालनमें अधर्म नहीं होगा। यदि स्वधर्म पालन नहीं करोगे तो पाप लगेगा—'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।' इन सब उक्तियोंसे यह निश्चय होता है कि भगवान्‌को भी 'यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्' यही इष्ट है। वैदिक कर्मोंमें पशु-हिंसादि दोष नहीं है। अतः कर्मसहित ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, केवल ज्ञानसे नहीं।"

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञाननिष्ठा और कर्मयोग—ये दोनों भिन्न-भिन्न दो बुद्धियोंके विषय हैं।

भगवान्‌ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' यहाँसे आरम्भ करके 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' यहाँतक तो जो परमार्थतत्वका निरूपण किया है वह सांख्य—ज्ञाननिष्ठा है। इसमें जो बुद्धि है उसमें आत्मा जन्मादि षड्विकारसे रहित अकर्ता है—ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। यह सांख्यबुद्धि है। यह बुद्धि ज्ञानीको ही होती है, इसलिये इस सांख्यबुद्धिका नाम ज्ञाननिष्ठा है, इसीका नाम सांख्यबुद्धि भी है।

ऐसी बुद्धि उत्पन्न होनेसे पहले अज्ञानी आत्माको देहसे अभिन्न कर्ता एवं भोक्ता मानता है तथा धर्माधर्मसे युक्त रहता है, मोक्ष-साधनके लिये चेष्टा करता है—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम योगबुद्धि है, ऐसी बुद्धि कर्मियोंको ही होती है। ऐसी बुद्धिवालोंका कर्ममें ही अधिकार है।

इसी विषयका विभाग करते हुए भगवान् कहते हैं—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।' इस श्लोकमें दो बुद्धियोंका वर्णन अलग-अलग स्पष्ट दिखाई देता है।

इन दो बुद्धियोंमेंसे सांख्यबुद्धिके आश्रित रहनेवाले सांख्ययोगियोंकी ज्ञाननिष्ठाको 'पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता' इस वचनसे अलग कहेंगे और योगबुद्धिके आश्रित कर्मयोगसे होनेवाली कर्मयोगनिष्ठाको 'कर्मयोगेन योगिनाम्' इत्यादिसे अलग कहेंगे। इसलिये सांख्यनिष्ठाका अधिकारी ज्ञानी और कर्मयोगनिष्ठाका अधिकारी अज्ञानी है—यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

भगवान् स्वयं यह भी मानते हैं कि कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व, एकत्व तथा अनेकत्व—ये दोनों एक साथ एक व्यक्तिमें रहने सम्भव नहीं, अतः ऊपर कही हुई ज्ञाननिष्ठा और कर्मयोगनिष्ठाका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है।

जैसे यहाँ गीतामें दो निष्ठाका विभाग करके वर्णन किया, वैसे ही शतपथब्राह्मणमें भी दो विभाग दिखाया गया है—'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तो ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) 'वैराग्यवान् ब्राह्मण इसी आत्मलोककी इच्छासे संन्यास ग्रहण करते हैं।' इस प्रकार संन्यासका विधान करके वाक्यशेषसे यह भी कहा कि 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ० ४।४।२२) 'उन प्रजाओंसे हम क्या करेंगे, जिन हमलोगोंका यह आत्मा ही लोक है।'

वहीं यह भी कहा है कि 'प्राग्दारपरिग्रहात्पुरुष आत्मा प्राकृतो धर्मजिज्ञासोत्तरकालं लोकत्रयसाधनं पुत्रं द्विप्रकारं च वित्तं मानुषं दैवं च, तत्र मानुषं वित्तं कर्मरूपं पितृलोकप्राप्तिसाधनं, विद्यां च दैवं वित्तं देवलोकप्राप्तिसाधनं सोऽकामयत।' (बृ० १।४।१७)

इस ऊपर कही गयी श्रुतिमें अविद्यावान् कामना करनेवाले-के लिये ही श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित सभी कर्म कहे गये हैं।

और 'तेभ्यो व्युत्थाय प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) आत्म-लोकके चाहनेवाले निष्काम पुरुषके लिये तो संन्यासका ही विधान है।

यदि भगवान्को ज्ञान एवं कर्मका समुच्चय अभिप्रेत होता तो ऊपर कहा गया दो विभागरूप वचन अयुक्त हो जायगा।

तथा समुच्चय स्वीकार कर लेनेपर 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' यह अर्जुनका प्रश्न भी नहीं बन सकता है।

यदि एक पुरुषके द्वारा एक साथ ज्ञान और कर्मकी असं-भवता तथा कर्मसे ज्ञानकी श्रेष्ठता भगवान्से नहीं कही गयी होती तो अर्जुन अनसुनी बातको भगवान्से कैसे पूछता कि 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।'

और यदि ज्ञान तथा कर्मके समुच्चयका सबके लिये उपदेश होता, तब 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' यह प्रश्न कैसे होता।

जैसे पित्त रोगका शमन चाहनेवालेको वैद्य यह उपदेश दे कि मधुर और शीतल पदार्थका सेवन करो, तब रोगीका यह प्रश्न करना नहीं बनता कि पित्त-शान्तिके लिये शीतल और मधुरमेंसे एक उपाय बतलाइये।

ऊपर कहे गये युक्ति और प्रमाणसे यही निश्चय हुआ कि समस्त गीताका यही अर्थ है कि केवल तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति होती है, कर्मसहित ज्ञानके समुच्चयसे नहीं। इस प्रकार भगवान्के अभिप्रायके अनुसार विभागपूर्वक जगह-जगह आगे भी दिखलायेंगे।

इस प्रकार शोक-मोहके समुद्रमें डूबे हुए अर्जुनके उद्धारका आत्मज्ञानके विना अन्य कोई उपाय न देखकर शोक-समुद्रसे अर्जुनका उद्धार करनेकी इच्छासे भगवान् वासुदेव आत्म-ज्ञानका बोध कराते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् बोले—शोक न करने योग्य सदाचारी भीष्मादि-के लिये तू शोक करता है तथा बुद्धिमानोंके वचन भी बोलता है । इन दोनों परस्पर-विरुद्ध बातोंसे तू उन्मत्तके समान अपनेको दिखाता है । क्योंकि जो मर गये हैं एवं जो जीते हैं उनके लिये पण्डितलोग शोक नहीं करते हैं ।

श्रीमद्भागवतमें बताया गया है—

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥
(स्क० ३ अ० ५ श्लो० १४)

'शोच्य पशु होते हैं, उनसे भी शोच्य वे अज्ञानी होते हैं जो अपने पापके कारण भगवान्‌की कथासे विमुख हैं; उन वाणी, देह और मनके व्यर्थ व्यापारमें लगे हुए लोगोंकी आयुको कालात्मा सूर्यदेव नाश करते रहते हैं ।'

तात्पर्य यह कि परमार्थदृष्टिसे नित्य अशोचनीय भीष्मादि श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

भीष्मादि अशोच्य क्यों हैं ? इसलिये कि वे नित्य हैं। नित्य कैसे हैं ?—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

मैं किसी कालमें नहीं था—ऐसा नहीं, किन्तु भूतपूर्व शरीरोंको उत्पत्ति और विनाश कालमें भी मैं था; तथा तू नहीं था सो नहीं, तू भी अवश्य था और ये राजालोग भी नहीं थे सो नहीं, किन्तु ये भी अवश्य थे। इन शरीरोंके नाश होनेके वाद भी हम सव नहीं रहेंगे सो नहीं, किन्तु सव रहेंगे। भाव यह कि तीनों कालोंमें आत्मस्वरूपसे सव नित्य हैं ॥ १२ ॥

किसके समान आत्मा नित्य है ? इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

इस देहधारी आत्माकी इस शरीरमें जैसे वाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था होती हैं उसी प्रकार निर्विकार नित्य आत्माको दूसरे देहकी प्राप्ति होती है। अर्थात् जैसे पहली वाल्यावस्थाके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता और दूसरी युवावस्था हो जाती है तथा युवावस्थाका नाश होनेपर तीसरी जरावस्था आ जाती है किन्तु आत्माका नाश नहीं होता, उसी प्रकार इस शरीरके विनाश होनेपर देहान्तर प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

यद्यपि आत्मा नित्य है इसके लिये शोक-मोह सम्भव नहीं है, तथापि शीत-उष्ण, सुख-दुःखकी प्राप्तिसे शोक होता देखा जाता है। इस शंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मात्रा—शब्दादि विषय जिनसे जाने जायँ, वे इन्द्रियाँ और स्पर्श—शब्दादि विषयोंके संयोग । ये ही शीत-उष्ण, सुख-दुःख देते हैं । ये सब उत्पत्ति एवं विनाश-शील हैं । इनको सहन करो ॥ १४ ॥

शीत-उष्णादिको सहनेसे क्या लाभ होता है ? सो सुनो—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख-दुःखकी प्राप्तिमें जो हर्ष-विषादसे रहित होता है तथा जो धीर पुरुष सुख-दुःखको समान समझता है, वह आत्मदर्शनमें समर्थ हो जाता है ॥ १५ ॥

इसलिये भी शोक-मोह न करके शीत-उष्ण सहन करना चाहिये; जिससे कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् शरीरादि एवं शीत-उष्णादि द्वन्द्व और उनका कारण अविद्या, इनका भाव—अस्तित्व नहीं है, तथा सत् आत्माका अभाव—अविद्यमानता नहीं, है, क्योंकि वह सर्वत्र सब कालमें स्थिर रहता है । इस प्रकार आत्मा और अनात्मा अर्थात् सत् और असत् दोनोंका निर्णय तत्वदर्शियोंद्वारा देखा गया है । भाव यह है कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही हैं ॥ १६ ॥

जो सत् है और सब कालमें रहता है, वह क्या है ? सुनो—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

उसको तुम अविनाशी जानो, जिस सत् नामके ब्रह्मसे आकाशादि समस्त विश्व व्याप्त है, तथा जो सबका आत्मा है एवं जो अव्यय है अर्थात् कभी न घटता है और न बढ़ता है। उस अव्यय आत्माका विनाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। कश्चित्—कोई भी—ईश्वर भी इसका विनाश नहीं कर सकता हैं ॥ १७ ॥

तो फिर असत् क्या हैं ? जिसका रूप बदलता रहता हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

हे भारत ! स्वप्न एवं मायाके शरीरके समान ये सब देह अन्तवान्—विनाशी हैं, और जिसका शरीर हैं वह शरीरी आत्मा अविनाशी, अप्रमेय—असीम और नित्य हैं। शरीरी आत्माके सब शरीर विनाशी हैं अतः तुम युद्ध करो ॥ १८ ॥

यह गीताशास्त्र संसारके कारणरूप शोक-मोह आदिकी निवृत्ति करनेवाला है, प्रवृत्ति करनेवाला नहीं है; इस विषयमें साक्षिभूत दो ऋचाएँ भगवान् उद्धृत करते हैं ।

यदि तुम यह मानते हो कि मेरे द्वारा युद्धमें भीष्मादि मारे जायेंगे तथा मैं उनका मारनेवाला हूँ तो यह तुम्हारी बुद्धि सर्वथा मिथ्या है ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस प्रकरणमें कहे गये आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरनेवाला समझता है—ये दोनों ही आत्म-स्वरूपको न जाननेवाले ही हैं। क्योंकि आत्मा अविकारी होनेके कारण न किसीको मारता ही है और न कोई मारा ही जाता है ॥ १९ ॥

आत्मा निर्विकार कैसे है ? इसपर दूसरा मन्त्र है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता एवं न मरता है; जन्म-मरण-रूप दो विकारोंके प्रतिषेधसे बीचमें होनेवाले विकारों—घटना, वढ़ना, अपक्षय (धीरे-धीरे क्षीण होना) और विनाश—इन छहों विकारोंसे रहित आत्मा है यह कहा गया है। होकर पुनः नहीं होता, अतः अज है; नित्य, शाश्वत और अनादि है। अतः इस शरीरके नष्ट होनेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता है ॥ २० ॥

'य एनं वेत्ति हन्तारम्'—इस मन्त्रसे आत्मा न मरता है और न मारता है, यह कहकर 'न जायते'—इस मन्त्रसे आत्मा निर्विकार है, यह कारण कहा, इसीका उपसंहार करते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

जो इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय

जानता है वह पुरुष कैसे किसीको मार सकता है तथा कैसे वह मरवाता है ॥ २१ ॥

ऊपर आत्माको अविनाशी कहा गया है इसीका दृष्टान्तसे सादृश्य कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य जीर्ण—पुराने वस्त्रोंको छोड़कर अन्य नये वस्त्र धारण कर लेता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको छोड़कर नवीन शरीर प्राप्त कर लेता है। भाव यह कि वस्त्र वदल लेनेवाले पुरुषके शरीरके समान जीवात्मा सदा निर्विकार है, वस्त्रके समान शरीर ही जीर्ण होते हैं।

किस कारणसे आत्मा सदा निर्विकार ही रहता है ?—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

आत्माको शस्त्र नहीं काटते, अग्नि जलाता नहीं एवं जल इसको भिगो नहीं सकता और वायु शोषण नहीं कर सकता है ॥ २३ ॥

ऐसा है इस कारण—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

आत्मा न कटनेवाला, न जलनेवाला, न गलनेवाला है और न सूखनेवाला ही है। एक दूसरेका नाश करनेवाले पञ्च-भूत इस आत्माका नाश नहीं कर सकते। इसलिये आत्मा नित्य है। नित्य होनेसे सर्वव्यापी है, सर्वव्यापी होनेसे स्थाणु है तथा अचल है और सनातन अर्थात् पुराना है।

इस श्लोकमें पुनरुक्ति दोषकी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि एक ही श्लोकसे नित्यता और निर्विकारता दोनों कही गयी हैं—'न जायते म्रियते वा।' अतः आत्माके विषयमें जो कुछ भी कहा जाय, वह उपरोक्त श्लोकसे भिन्न नहीं है। कोई शब्दसे पुनरुक्त है तो कोई अर्थसे पुनरुक्त है।

आत्मतत्व अत्यन्त दुर्बोध है, अतः पुनः-पुनः प्रसंग उठाकर शब्दान्तरसे भगवान् वासुदेव आत्मतत्वका कथन करते हैं। भगवान्‌का भाव यह है कि किसी भी प्रकारसे संसारी जीवकी बुद्धिमें यह अव्यक्त तत्व आ जाय और जीव संसारसे निवृत्त हो जाय॥ २४॥

और भी बात है—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

यह आत्मा इन्द्रियादि करणोंका विषय नहीं होता इसलिये अव्यक्त है, अतः अचिन्त्य भी है, इन्द्रियोंसे गोचर पदार्थ ही चिन्तन किया जाता है, आत्मा इन्द्रियातीत होनेसे अचिन्त्य है। एवं अविकारी है। तथा निरवयव होनेसे अविक्रिय है, अवयववाला पदार्थ ही विकारी होता है, आत्मा निरवयव होनेसे अविक्रिय है। उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको जानकर मुझसे ये मारे जाते हैं, मैं इनका मारनेवाला हूँ—यह शोक नहीं करना चाहिये॥२५॥

यदि आत्माको अनित्य भी स्वीकार करें तो भी—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

हे महाबाहो ! यदि तू इस आत्माको लोकप्रसिद्धिके अनुसार शरीरोंकी प्रत्येक उत्पत्तिके साथ सदा उत्पन्न हुआ माने और उनके प्रत्येक नाशके साथ सदा नष्ट हुआ माने, तब भी तुझे इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि उत्पन्न होनेवालेका मरण और मरनेवालेका जन्म—ये दोनों अवश्य ही होनेवाले हैं ॥ २६ ॥

ऐसा होनेसे—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जो जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह निश्चय ही जन्म लेगा। जब जन्म-मरणरूप भाव अपरिहार्य है, जब इसका कोई भी प्रतिकार नहीं है तो इसके लिये तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

यदि देह-इन्द्रियादि संघातको ही आत्मा मानो तो भी उनके लिये शोक करना उचित नहीं है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

ये कार्य-कारणसमूह—देह, पुत्र, मित्रादि सारे भूत जन्मसे पहले दिखाई नहीं देते थे, जन्मनेपर दिखाई देते हैं, तथा मरनेके बाद भी नहीं दिखाई पड़ेंगे अर्थात् जन्म-मरणके मध्यमें ही

दिखाई देते हैं, 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' । जो आदि-अन्तमें नहीं है वह मध्यमें नहीं है, केवल भ्रमसे प्रतीत होता है अतः इनके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है । 'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः । नासीत् तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना ।' (म० भा०) 'वह अदर्शनसे आया है और पुनः अदर्शन हो गया, न वह तेरा है न तू उसका है, व्यर्थ चिन्ता क्यों करते हो ?' ॥ २८ ॥

जिस आत्मतत्त्वका प्रकरण चल रहा है, वह अत्यन्त दुर्विज्ञेय है । कैसे दुर्विज्ञेय है ?—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आश्चर्य—जो पहले कभी नहीं देखा गया हो, अकस्मात् देखाई दे—ऐसे अद्भुत पदार्थका नाम आश्चर्य है । इस आत्माको कोई महापुरुष ही आश्चर्यमय वस्तुकी तरह देखता है, कोई आश्चर्यवत् कहता है, कोई आश्चर्यवत् सुनता है और कोई देख-सुनकर और कहकर भी नहीं जानता है, इसलिये आत्मा दुर्विज्ञेय है ॥ २९ ॥

अब प्रकरणका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत ! यह देही—आत्मा नित्य है अतः सब अवस्थाओंमें

अवध्य है। निरवयव होनेसे सब शरीरोंमें स्थित है इस कारण भी अवध्य है। सर्वस्य—सब प्राणिमात्रके शरीर नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता है इसलिये भी भीष्मादिके उद्देश्यसे शोक करना व्यर्थ ही है ।। ३० ।।

प्रकरणमें कहा गया है कि परमार्थदृष्टिसे शोक-मोह नहीं करना चाहिये, केवल इतना ही नहीं; किन्तु—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

क्षत्रियोंके लिये युद्ध तो स्वधर्म है। अपने कर्तव्यका पालन अवश्य करना चाहिये, उसको देखकर कम्पित नहीं होना चाहिये। धर्ममय युद्धको छोड़कर क्षत्रियके कल्याणका दूसरा मार्ग भी नहीं है ।। ३१ ।।

इसलिये भी युद्ध अवश्य करना चाहिये, सो कहते हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

हे पार्थ ! विना बुलाये लड़ाई आ जाय तो क्षत्रियके लिये खुला स्वर्गका द्वार जानना। जो इसको प्राप्त करते हैं, वे सुखी माने जाते हैं ।। ३२ ।।

इस प्रकार कर्तव्य प्राप्त होनेपर भी—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

यदि तू इस धर्ममय संग्रामको नहीं करेगा तो धर्मसे च्युत होकर कीर्ति नष्ट कर देगा एवं पापका भागी बनेगा ।। ३३ ।।

स्वधर्म एवं कीर्तिका त्याग ही नहीं होगा, किन्तु—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सब लोग तेरी स्थायी निन्दा करेंगे, प्रतिष्ठाप्राप्त पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी अधिक दुःखप्रद होती है ॥ ३४ ॥

और भी बात है—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जिन दुर्योधन आदिकी दृष्टिमें तू गुणोंसे श्रेष्ठ माना जाता था, अब उनकी दृष्टिमें लघुता हो जायगी, तथा वे महारथी, 'यह कर्णादिके भयसे युद्धसे उपरत—निवृत्त हो गया' ऐसा मानेंगे, दयासे निवृत्त हुआ नहीं जानेंगे ॥ ३५ ॥

और भी बात है—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

शत्रुगण तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए अनेक प्रकारसे अवाच्य—अपशब्द—नहीं कहने योग्य वाक्य कहेंगे। निन्दासे बढ़कर और दुःख क्या होगा ॥ ३६ ॥

और युद्ध करनेपर तो—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

उनसे मारे जानेपर तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे, या कर्णादि शूरोंको जीतकर पृथिवीका राज्य भोगोगे, दोनों प्रकारसे लाभ

ही है । अतः हे कौन्तेय ! युद्धके लिये निश्चय करके उठ जाओ ।। ३७ ।।

'युद्ध स्वधर्म है' यह माननेवालेके लिये यह उपदेश सुनो—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

सुख-दुःख समान मानकर राग-द्वेषसे रहित एवं लाभ-हानि और जय-पराजय तुल्य समझकर युद्धके लिये चेष्टा करो । इस प्रकारसे युद्ध करनेपर पाप नहीं लगेगा ।। ३८ ।।

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्यादि श्लोकोंसे शोक-मोह दूर करनेके लिये लौकिक न्याय दिखाया गया, किन्तु परमार्थ दृष्टिसे यह वात नहीं है ।

प्रकरण परमार्थदर्शनका है, अतः अव शास्त्रविषयक विभाग दिखानेके लिये अगले श्लोकसे परमार्थदर्शनका उपसंहार करते हैं ।

इस विभागसे आगे चलकर 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' में कही जानेवाली दो निष्ठा सुखपूर्वक समझायी जा सकेगी और श्रोता इन दो विभागोंको अनायास समझ सकेंगे । इसलिये कहते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।३९।।

मैंने सांख्य—परमार्थ वस्तुके विषयका विवेक कह दिया, यह ज्ञान संसार प्राप्त करानेके कारणभूत शोक-मोहकी अत्यन्त निवृत्ति करनेवाला है ।

इसकी प्राप्तिके उपायस्वरूप बुद्धि—आसक्तिरहित होकर एवं सुख-दुःखरूप द्वन्द्व सहन करते हुए ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जानेवाले कर्मयोगमें और समाधियोगमें इस बुद्धिको सुनो। रुचि वढ़ानेके लिये स्तुति करते है—

हे अर्जुन ! जिस योगविषयक बुद्धिसे युक्त होकर धर्माधर्मं नामसे प्रसिद्ध कर्मरूप वन्धनको काटकर भगवत्-कृपासे ज्ञान-प्राप्तिद्वारा परमपद प्राप्त कर लोगे ।। ३९ ।।

दूसरी वात भी सुनो—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

मोक्षके लिये ईश्वरार्पणवुद्धिसे अभिक्रम—प्रारम्भ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता तथा उससे प्रत्यवाय—विहित कर्मोंके त्याग करनेका दोष भी नहीं होता है। किन्तु थोड़ा भी किया गया इस कर्मयोगका अनुष्ठान जन्म-मरणरूप संसारभयसे रक्षा करता है ।। ४० ।।

ऊपर सांख्ययोगविषयक वुद्धि कही गयी, अव योगविषयक बुद्धि कही जायगी—

व्यवसायात्मिका वुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
वहुशाखा ह्यनन्ताश्च वुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन ! इस श्रेय—मोक्षमार्गमें प्रमाणसे उत्पन्न एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है, अर्थात् भगवत्-प्राप्तिके सिवा अन्य किसी पदार्थकी कामना नहीं होती। और जो अव्यवसायी हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि प्रमाणजन्या निश्चयात्मिका नहीं है

उनकी बुद्धियाँ बहुत भेदोंवाली होती हैं, शाखाभेदसे अनन्त होती रहती हैं ॥ ४१ ॥

जिनके व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

जो खिले हुए पुष्पोंके समान शोभित अर्थात् सुननेमें अत्यन्त मनोहर वाणी बोलते हैं, वे अज्ञानी अर्थवाद और फल-साधनोंके प्रकाश—कथन करनेवाले वेदवाक्योंको बोलते हैं । हे पार्थ ! वे यह भी कहते हैं कि स्वर्ग आदि फल-प्राप्तिके साधनरूप कर्मोंसे अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ४२ ॥

तथा—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

काम—भोग ही उनका स्वभाव है, भोगप्रधान स्वर्गको ही वे परमपुरुषार्थ मानते हैं एवं जन्मरूप कर्मफल देनेवाले कर्मकी ही चर्चा करते हैं, अर्थात् सकाम कर्म जो वेदोंमें कहा गया है, जिन कर्मोंके करनेसे उनके फल भोगनेके लिये जन्म लेना पड़ता है, ऐसे भोग और ऐश्वर्य प्रदान करानेवाले कर्म-कलापमें—जिसमें साध्य-साधना-क्रियाओंका अधिकतर वर्णन है, जिनके फलस्वरूप जीवको वारंवार जन्म लेना पड़ता है—अज्ञानी (मूढ़) लगे रहते हैं और उसी क्रियाबाहुल्यकी वार्ता भी करते हैं ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त एवं आसक्तिके कारण जिनका चित्त भोगसे अपहृत है, अर्थात् भोगमें प्रवृत्त रहनेसे विवेक-बुद्धि आच्छादित हो गयी है, उनको बुद्धि सांख्यमें अथवा योग—कर्मयोगमें निश्चयात्मिका नहीं होती है ।। ४४ ।।

विवेकबुद्धिसे रहित कामपरायण मनुष्योंको—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

वेद त्रैगुण्यविषयक हैं अर्थात् गुणोंके कार्य संसारको ही प्रकाशित करनेवाले हैं । हे अर्जुन ! तुम तो निस्त्रैगुण्य—तीन गुणोंसे परे निष्कामी हो जाओ । तथा सुख-दुःखसे रहित और नित्य सत्वगुणमें स्थित होकर निर्योगक्षेमवान् हो जाओ । योग—अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और क्षेम—प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेमें जो लगे रहते हैं, उनकी कल्याण-मार्गमें प्रवृत्ति होना दुष्कर होता है । तुम आत्मवान्—सावधान हो जाओ । स्व-धर्मानुष्ठानमें स्थितिके लिये यह उपदेश है ।। ४५ ।।

जो सब वेदोंमें कहे गये कर्मोंके अनन्त फलोंको नहीं चाहता, वह ईश्वरके लिये कर्मानुष्ठान क्यों करे ? तो सुनो—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

जैसे छोटे-छोटे जलाशयोंमें जो प्रयोजन सिद्ध होता है, वह सब प्रयोजन एक पूर्ण महान् जलाशयमें सिद्ध हो जाता है; वैसे ही समस्त वेदोक्त कर्मोंसे जो फल मिलता है, वह समस्त फल परमार्थ-तत्त्वको जाननेवाले ब्राह्मणको अनायास सिद्ध हो जाता है । आगे कहेंगे भी—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' 'सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ।'

यहाँ यह वात भी जाननी चाहिये कि यद्यपि वेदोक्त कर्म छोटे-छोटे जलाशयोंके समान अल्प फल देनेवाले हैं, तथापि ज्ञाननिष्ठामें जवतक अधिकार नहीं प्राप्त है, तबतक कर्माधिकारीको वैदिक कर्म करते रहना चाहिये ।। ४६ ।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

तुम कर्मके ही अधिकारी हो, ज्ञाननिष्ठाके अधिकारी नहीं हो । कर्म करते हुए भी कर्मफलकी इच्छा कभी भी नहीं होनी चाहिये । यदि कर्मफलकी इच्छा होगी तो तुम कर्मफल-प्राप्तिके कारण होओगे । कर्मफल-प्राप्तिके कारण मत वनो । जव कर्मफलकी तृष्णासे प्रेरित होकर कर्म करता है, तव कर्मफल भोगनेके लिये पुनर्जन्म लेना ही पड़ता है । अतः फलमें आसक्तिसे रहित होकर कर्म करो, अकर्मी मत वनो ।। ४७ ।।

यदि कर्मफलसे प्रेरित होकर कर्म न करें तो कैसे कर्म करें ? तो सुनो—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

योगमें स्थित होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करो । इसमें भी ईश्वर मुझपर प्रसन्न हों—ऐसी भावना भी न होने दो । कर्म करनेसे अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ज्ञान-प्राप्तिरूप सिद्धि तो होगी ही—इस भावनाका नाम सिद्धि है, इसके विपरीत, ज्ञान-प्राप्ति न होना असिद्धि है; इन सिद्धि और असिद्धि दोनोंको समान समझकर कर्म करो, इन दोनोंमें समान भाव रखनेको ही योग कहा गया है ।। ४८ ।।

समत्वबुद्धिसे युक्त ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये गये कर्मकी अपेक्षा सकाम कर्म निकृष्ट है—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

समत्वबुद्धियोगसे युक्त कर्मकी अपेक्षा कर्मफल चाहनेवाले सकामी पुरुषोंसे किये गये कर्म जन्म-मरणके कारण होनेसे अत्यन्त निकृष्ट कहे गये हैं, अतः हे धनंजय ! तुम योगविषयक बुद्धिमें या उसके फलरूपमें प्राप्त होनेवाली सांख्यबुद्धिमें आश्रय लो अर्थात् परमार्थ-ज्ञानकी शरण लो । फलकी तृष्णासे सकाम कर्म करनेवाले कृपण—दीन कहे गये हैं ॥ ४९ ॥

समत्वबुद्धियुक्त स्वधर्मानुष्ठानका फल सुनो—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

समत्वयोगयुक्त बुद्धिसे कर्म करनेवाला अन्तःकरण-शुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करके पाप-पुण्य दोनोंको त्याग देता है, अतः तुम समत्वबुद्धियोगके लिये प्रयत्न करो । भगवत्-अर्पण-बुद्धिसे किये गये स्वधर्मानुष्ठानसे सिद्धि-असिद्धिमें समत्वबुद्धि उत्पन्न होती है—यही कर्मोंकी कुशलता है, अर्थात् स्वभावसे बन्धन करनेवाले कर्म भी समत्वबुद्धिके प्रभावसे अपना स्वभाव बन्धन त्यागकर मुक्तिके कारण बन जाते हैं—यही कर्मका कौशल है ॥ ५० ॥

इसीलिये—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्मज—कर्मसे उत्पन्न होनेवाले इष्टानिष्ट फलका नाम कर्मज फल है। समत्वयोगयुक्त साधक कर्मफलको त्यागकर ज्ञानप्राप्तिद्वारा इस शरीरमें ही जन्म-बन्धसे मुक्त होकर अनामय—सर्वविध उपद्रवरहित विष्णुपदको प्राप्त कर लेता है॥ ५१ ॥

योगानुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होकर यह बुद्धि कब उत्पन्न होगी ?—इसपर सुनो—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब मोहकलिल—आत्मानात्माके अविवेकरूप कालिमाको मिटाकर तेरी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध हो जायगी,और जब सुननेयोग्य और सुने हुए सबसे वैराग्य हो जायगा, तब समत्वबुद्धि उत्पन्न हो जायगी ॥ ५२ ॥

मोहकलिलसे पार होकर आत्मविवेकजन्य बुद्धि प्राप्त होनेपर कर्मयोगका फल ज्ञान कब प्राप्त करूँगा ? तो सुनो—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुतिविप्रतिपन्न—नाना प्रकारके साध्य एवं साधनको बतलानेवाली श्रुतिसे विक्षिप्त तेरी बुद्धि जब समाधि—आत्मामें निश्चल याने स्थिर हो जायगी, तब कर्मयोगका फल ज्ञान—आत्मस्वरूप प्राप्त कर लेगा । ५३ ॥

जो समाधि—आत्मामें स्थित हो गया है, उस स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है ? यह प्रश्न है—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले—

हे केशव ! समाधिमें स्थित, स्थितप्रज्ञकी भाषा क्या होती है ? अर्थात् दूसरे लोगोंद्वारा वह किन लक्षणोंसे जनाया जाता है ? और वह कैसे बोलता है ? कैसे बैठता हैं ? तथा कैसे चलता है ? ॥ ५४ ॥

जो कृतोपासक आरम्भमें ही कर्म त्यागकर ज्ञाननिष्ठामें स्थित है और जो कर्मयोगसे ज्ञाननिष्ठा प्राप्त किया है—इन दोनों स्थितप्रज्ञोंका लक्षण और साधन कहा जाता है । यहाँ यह भी जानना चाहिये कि साधक और सिद्धका लक्षण एक ही होता है । साधकको यत्नपूर्वक साध्य होनेसे साधनरूपसे उपदेश किया जाता है, वही लक्षण सिद्ध पुरुषका स्वभावसिद्ध हो जाता है—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले—

मनमें स्थित समस्त कामनओंको जब छोड़ देता है और अपने आपमें अर्थात् आत्मदर्शनरूप अमृतरस-लाभसे तृप्त रहता है, एवं बाह्यपदार्थोंमें तृष्णारहित हो जाता है, तब स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

दूसरा लक्षण—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकारके दुःख प्राप्त होनेपर जो उद्विग्न—क्षुभित नहीं होता एवं सुख-प्राप्तिमें तृष्णा नहीं करता और राग, भय तथा क्रोधसे रहित है, वही स्थितप्रज्ञ मुनि और संन्यासी कहलाता है ॥ ५६ ॥

और भी—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो वाह्य सभी विषयोंमें तथा अपने जीवन-मरणमें भी स्नेहसे रहित है और शुभमें जो प्रसन्न नहीं होता तथा अशुभसे द्वेष नहीं करता, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥ ५७ ॥

और भी—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जब ज्ञाननिष्ठामें प्रवृत्त योगी कछुएके अङ्गों-समान अर्थात् जैसे कछुआ भयसे सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विषयोंसे इन्द्रियोंको खींच लेता है, तब उसकी बुद्धि अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाती है ॥ ५८ ॥

रोगीकी भी इन्द्रियाँ तो विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं किन्तु उनका राग (आसक्ति) निवृत्त नही होता। उसका नाश कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

निराहार रोगी अथवा वृद्धके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं किन्तु विषयोंमें रहनेवाला रस (आसक्ति) निवृत्त नहीं होता, परन्तु परमार्थतत्त्वरूप ब्रह्मात्मैकत्व-दर्शन होनेपर रागात्मक सूक्ष्म आसक्ति भी इस यतिकी निर्वीज हो जाती है। भाव यह कि सम्यक् दर्शनके विना राग नहीं नष्ट होता है ॥ ५९ ॥

आत्मस्वरूपमें बुद्धि स्थिर करनेवालेको पहले इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेना चाहिये। इन्द्रियाँ वशमें न होनेपर क्या होगा ? सो कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय ! प्रयत्न करनेवाल विवेकी—विद्वान् पुरुषको भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयाभिमुख होनेसे क्षुब्ध (व्याकुल) कर देती हैं। व्याकुल करके विवेक-विज्ञानयुक्त मनको भी वलात् हरण कर लेती हैं। लिखा भी है—

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥
(भागवत स्क० ४ अ० २२ श्लो० ३०)

स्मरण मात्रसे विषयोंके द्वारा इन्द्रियाँ खींची जाती हैं और विषयोंसे खींची गयी इन्द्रियाँ मनको खींच लेती हैं तथा इन्द्रियोंसे आकृष्ट मन बुद्धिमें जो चेतना अर्थात् विचारशक्ति है उसको हरण कर लेता है—जैसे जलाशयकेतट पर स्थित वृक्ष शनैः-शनैः जलाशयके जलको खींचते रहते हैं ॥ ६० ॥

इसलिये—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

सब इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर अपने वशमें करके समाहित चित्तसे मत्पर (अपनेको परमात्मासे अभिन्न) होकर बैठना चाहिये । इस प्रकारके अभ्याससे जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥ ६१ ॥

अब मनुष्योंके समस्त अनर्थका कारण बतलाते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयोंका चिन्तन करनेसे पुरुषकी विषयोंमें आसक्ति (प्रीति) हो जाती है । आसक्तिसे काम—तृष्णा होती है । काममें रुकावट होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधसे संमोह—कर्तव्याकर्तव्यमें अविवेक होता है । संमोहसे स्मृति-विभ्रम अर्थात् शास्त्र और गुरुके वचनोंके संस्कारसे जनित स्मृतिमें भ्रम (भ्रंश) होता है । स्मृतिभ्रंश होनेसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धि-नाश होनेसे मनुष्यका (मनुष्यत्वका) नाश हो जाता है अर्थात् वह पुरुषार्थसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥

सब अनर्थोंका मूल बतला दिया । अब मोक्षका साधन कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

जिसका अन्तःकरण इच्छानुसार वशमें है, वह राग (आसक्ति) और द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंसे अपरिहार्य विषयोंको सेवन करता हुआ प्रसन्नता एवं स्वास्थ्य-लाभरूप प्रसादको प्राप्त करता है ।। ६४ ।।

प्रसादसे क्या होता है ? सो कहते हैं—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

प्रसाद होनेपर आध्यात्मिक आदि तीनों दुःखोंका विनाश हो जाता है और प्रसन्नचित्त साधककी बुद्धि शीघ्र ही आत्म-स्वरूपमें स्थिर हो जाती है ।। ६५ ।।

इसी प्रसन्नताकी स्तुति करते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

अयुक्त—असमाहित-चित्तको आत्मस्वरूपविषयक बुद्धि नहीं रहती और अयुक्तको आत्मज्ञानमें भावना—प्रीति भी नहीं होती है, तथा आत्मज्ञानके साधनमें प्रेम न होनेसे शान्ति (उपशम) नहीं होती और उपशमके विना सुख भी कैसे हो सकता है ।। ६६ ।।

अयुक्तको बुद्धि क्यों नहीं होती ? सुनो—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके पीछे-पीछे मन जाता है, इन्द्रियोंके विषयोंकी समीचीन और असमीचीनकी कल्पनामें

लगा हुआ चञ्चल मन बुद्धिको विवेकशक्तिको हरण कर लेता है, जैसे जलमें नावको वायु हर लेता है ।। ६७ ।।

'यततो ह्यपि'—इस श्लोकसे कहे गये अर्थको अनेक युक्तियोंसे बतलाकर अब उसका उपसंहार करते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त होनेमें जो दोष होता है उसको कह दिया, इसलिये हे महाबाहो ! जिस साधककी इन्द्रियाँ सब विषय से निगृहीत हैं तथा मन अपने वशमें है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ।। ६८ ।।

जिसको विवेक—आत्मा एवं अनात्माका ज्ञान हो गया है ऐसे स्थितप्रज्ञके लिये लौकिक और वैदिक सब व्यवहार अविद्याका कार्य कहा गया है, अतः ज्ञानसे अविद्याके निवृत्त होनेपर अविद्याका कार्य भी निवृत्त हो जाता है इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

परमार्थतत्त्वके विषयमें जिनकी बुद्धि नहीं जागती, ऐसे अज्ञानियोंके लिये परमार्थतत्त्व रात्रिके समान रात्रि है, और परमार्थतत्त्वरूप रात्रिमें अज्ञाननिद्रासे जगा हुआ संयमी जितेन्द्रिय मुनि जागता है। भाव यह कि अज्ञानी अविद्यारूप संसारमें जागता है और परमार्थतत्त्वमें सोता है, एवं ज्ञानी संसारमें सोता है और परमार्थमें जागता है ।। ६९ ।।

एषणाओंका त्याग करनेवाले स्थितप्रज्ञको ही मोक्ष प्राप्त होता है, भोगी—कामना करनेवालेको नहीं । इसको दृष्टान्तके द्वारा कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे जलसे परिपूर्ण अचल स्थिर समुद्रमें जल सब ओरसे आकर समा जाते हैं किन्तु समुद्रमें कोई विकार नहीं उत्पन्न करते, वैसे ही जिसकी सब कामनाएँ समाप्त हो गयी हैं उसको सब प्रकारके प्राप्त विषय-संग भी विचलित नहीं करते, उसीको शान्ति—मोक्ष प्राप्त होता है, कामकामी—भोग चाहनेवालेको शान्ति कभी नहीं मिलती है ॥ ७० ॥

इसीलिये—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर जीवन मात्रके लिये चेष्टा करता हुआ विचरता है एवं स्पृहारहित, निर्मम और अहंकारसे रहित है, वही शान्ति याने परमपद मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

ज्ञाननिष्ठाकी स्तुति करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

ऊपर कही गयी ब्रह्ममें होनेवाली स्थिति है। वह सब कर्मोंको त्यागकर केवल ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाना है। हे पार्थ! इस स्थितिको प्राप्तकर मनुष्य मोहित नहीं होता। अन्तकी आयुमें भी इस स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्ममें लीनतारूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है, और जो ब्रह्मचर्यावस्थासे ही संन्यास करके जीवनपर्यन्त ब्रह्ममें स्थित रहता है, उसका तो कहना ही क्या है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान्‌ने द्वितीय अध्यायमें प्रवृत्तिविषयक योगबुद्धि और निवृत्तिविषयक सांख्यबुद्धि—ये दो बुद्धियाँ दिखलायीं।

वहाँ 'प्रजहाति यदा कामान्' यहाँसे लेकर अध्याय-समाप्ति तक सब कर्मोंका त्याग करना कहकर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' इसमें ज्ञाननिष्ठासे कृतकृत्यता अर्थात् मुक्ति होना बतलाया।

किन्तु अर्जुनको 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इसमें योगबुद्धिका आश्रय लेकर तुझे कर्म ही करना चाहिये यह कहा, किन्तु इससे मुक्ति-प्राप्ति नहीं कहा।

इसको सुनकर अर्जुन व्याकुल हो गया। मुझ कल्याण चाहनेवाले भक्तको मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञाननिष्ठा सुनाकर भी अनेक अनर्थोंसे युक्त जिनका फल भी मोक्ष नहीं है ऐसे कर्मोंमें क्यों लगाते हैं—इस प्रकार व्याकुल होकर बोला। कर्मसे मोक्ष नहीं होता यह अर्जुनने ठीक ही समझा। समस्त उपनिषदोंमें भी यही निश्चित मत है कि केवल ज्ञानसे ही

मोक्ष होता है । कुछ लोग ज्ञान एवं कर्मके समुच्चयसे मोक्ष होता है यह कहते हैं, किन्तु भाष्यकार श्रीशंकराचार्यने इसका खण्डन कर दिया है । विशेष देखना हो तो भाष्यमें देख लेना चाहिये । सामान्यतया तो अर्जुनके प्रश्नसे ही समुच्चयवादका खण्डन हो जाता है । यदि ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयसे मुक्ति होती तो 'दोनोंमेंसे एकको निश्चय करके कहें' यह अर्जुन नहीं कहते । इसके अलावा 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इस श्लोकमें कर्मसे ज्ञाननिष्ठा होना असम्भव है, यह भगवान् नहीं कहते ।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आप यदि कर्मसे ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव ! हिंसायुक्त क्रूर कर्ममें मुझे क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥

तथा—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

भगवान् स्पष्टवक्ता हैं तो भी मुझ मन्दबुद्धिको भगवान्के वाक्य मिले हुए-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें तो आप मेरी बुद्धिका मोह दूर करनेके लिये प्रवृत्त हैं इसलिये कहता हूँ कि आप मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं । कर्म और ज्ञान दोनोंका अनुष्ठान एक साथ एक पुरुषके द्वारा होना यदि असंभव मानते हैं तो दोनोंमेंसे एक ज्ञान या कर्म जो मेरे योग्य है उसका निश्चय करके कहिये, जिससे मैं कल्याण प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

प्रश्नके अनुरूप ही उत्तर भगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन ! इस मनुष्य लोकमें कर्म और ज्ञानके जो अधिकारी हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इनके लिये दो प्रकारकी निष्ठा (कर्तव्य) सृष्टिके आदिकालमें मुझ सर्वज्ञ ईश्वरके द्वारा कही गयी है। इन दो निष्ठाओंमें एकसे लौकिक उन्नति और दूसरीसे मोक्ष-प्राप्ति होती है। यही कर्मयोगियोंके लिये कर्मनिष्ठा और सांख्य-योगियोंके लिये ज्ञाननिष्ठा है—यही वैदिक सम्प्रदाय है ॥ ३ ॥

कर्म वन्धनके हेतु हैं और भगवान् मुझे कर्ममें ही लगा रहे हैं—ऐसा समझकर दुःखी हुए अर्जुनको देखकर, ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्तिमें कर्मनिष्ठा साधन है, स्वतन्त्र कर्मनिष्ठासे मोक्ष नहीं होता, किन्तु वह अन्तःकरणकी शुद्धि करके ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति करानेवाला है इसलिये कर्म भी मोक्ष-प्राप्ति करानेमें परम्परया सहकारी कारण है—इस वातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कर्म-आरम्भके विना नैष्कर्म्यं नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए संचित पापोंका नाश विना कर्म किये नहीं हो सकता है, पाप-नाश होनेपर ही शुद्धान्तःकरणमें ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता प्राप्त होती है—'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः'। नैष्कर्म्यं—निष्क्रिय आत्मस्वरूपमें स्थिति पाना ही ज्ञाननिष्ठा है। उस निष्ठाको मनुष्य निष्काम वर्णा-

श्रमानुष्ठान करके ही प्राप्त कर सकता है। केवल संन्यास कर देने मात्रसे नैष्कर्म्य—ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ इत्यादि

आगे भगवान् कहेंगे भी ॥ ४ ॥

केवल कर्मसंन्यास मात्रसे मनुष्य ज्ञाननिष्ठा याने नैष्कर्म्य —आत्मस्वरूपमें स्थितिरूप सिद्धि क्यों नहीं प्राप्त करता है? इसपर भगवान् कहते हैं—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोई भी अज्ञानी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये विना नहीं रह सकता है। क्योंकि प्रकृतिसे उत्पन्न सत्व, रज और तम— इन गुणोंद्वारा अवश्य प्रवृत्त कराया जाता है। ज्ञानीके लिये तो भगवान् आगे कहते हैं—'गुणैर्यो न विचाल्यते' अर्थात् ज्ञानी गुणोंसे विचालित नहीं किया जाता है। अतः कर्म अज्ञानियोंके लिये है, ज्ञानीके लिये नहीं ॥ ५ ॥

अज्ञानीको शास्त्रविहित कर्म नहीं करनेमें दोष दिखाते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

हस्त-पादादि इन्द्रियोंको रोककर मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मूढात्मा मिथ्याचारी (पापाचारी) कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! जो कर्माधिकारी अज्ञानी ज्ञानेन्द्रियोंको मनसे रोककर आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करता है, वह पहले कहे गये कर्मीकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

यदि ऐसी बात है तो—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

वर्णाश्रमविहित कर्मका नाम है नियत कर्म। उस नियत कर्मका तू आचरण कर। क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करनेपर तो शरीर-यात्राका निर्वाह भी नहीं होगा ॥ ८ ॥

बन्धनकारक होनेके कारण कर्म नहीं करना चाहिये—यह समझना भी भूल है। कैसे ? सुनो—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

श्रुतिमें यज्ञका अर्थ विष्णु है—'यज्ञो वै विष्णुः।' विष्णु ईश्वर हैं। ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया हुआ कर्म बन्धनका कारण नहीं होता है अतः भगवदर्पणबुद्धिसे आसक्तिरहित होकर कर्म करना चाहिये, धन-पुत्रादिके उद्देश्यसे अपने लिये किया हुआ सकाम कर्म ही बन्धनका कारण होता है। अतः मुक्तसङ्ग होकर नियत कर्म करो ॥ ९ ॥

इसलिये भी अधिकारीको कर्म करना चाहिये—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सृष्टिके आदिकालमें यज्ञके सहित प्रजाओं—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी रचना करके प्रजापतिने कहा—यज्ञ से तुमलोग बढ़ो; यज्ञ तुमलोगोंकी इष्ट कामनाओंका देनेवाला होगा ॥ १० ॥

कैसे—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

यज्ञके द्वारा इन्द्रादि देवोंको तृप्त करो । यज्ञोंसे तृप्त देवता तुमलोगोंको इष्ट भोगोंका प्रदान करेंगे । इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदानसे परम प्रसन्न होकर ज्ञानप्राप्तिद्वारा श्रेय—मोक्ष प्राप्त करोगे ।। ११ ।।

और भी बात है—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञके द्वारा सन्तुष्ट देवता तुमलोगोंको पुत्र-स्त्री-धनादि भोग देंगे । उनके दिये हुए भोगोंको उनको न देकर अर्थात् ऋण न चुकाकर जो स्वयं अपने शरीर-इन्द्रियादिको ही तृप्त करता है वह चोर है ।। १२ ।।

किन्तु—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो पुरुष यज्ञादिसे शेष अन्न खाते हैं वे श्रेष्ठ हैं अर्थात् यज्ञादिसे बचे अमृतस्वरूप अन्नको जो खाते हैं, वे गृहस्थमें होनेवाले पञ्च सूना अर्थात् कण्डनी, पेषणी, चुल्ली, उदकुम्भी और मार्जनीके द्वारा प्राप्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। दूसरे जो लोग केवल अपने उदर भरनेके लिये अन्न पकाते हैं, वे स्वयं पापी हैं और पाप ही भोजन करते हैं ॥ १३ ॥

अधिकारीको इसलिये भी कर्म करना चाहिये कि कर्म जगत्-चक्र चलानेका कारण है। कैसे ? सो कहते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नके परिणामस्वरूप वीर्यसे प्राणी उत्पन्न होते हैं एवं वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है और यज्ञसे वृष्टि होती है—'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (मनु० ३ । ७६) तथा कर्मसे अपूर्वरूप यज्ञ उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

और—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्मको ब्रह्म—वेदसे उत्पन्न जानो, वेदरूप ब्रह्मको अक्षरस्वरूप परमात्मासे उत्पन्न जानो अर्थात् वेद परमात्माका श्वास रूप है—'निःश्वसितमस्य वेदाः वीक्षितमेतस्य पञ्च महाभूतानि स्मितमेतस्य चराचरम्, अस्य च सुप्तं महाप्रलयः।' इसीलिये वेद सब अर्थोंका प्रकाशक होनेसे सर्वगत है। यह वेद सर्वगत होते हुए भी यज्ञमें प्रतिष्ठित है, क्योंकि यज्ञविधिमें वेदकी प्रधानता है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ ! जो मनुष्य कर्मका अधिकारी होकर ईश्वरद्वारा चलाये हुए वेद तथा यज्ञपूर्वक जगत्-चक्र अर्थात् वेदविहित वर्णाश्रमानुष्ठान (वेदाध्ययन-यज्ञादि) को नहीं करता है, वह इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें रमण करनेवाला पापी व्यर्थ जीवन विताता है । इस प्रकरणका भाव यह है कि अज्ञानी कर्माधिकारीको कर्म अवश्य करना चाहिये । 'न कर्मणामनारम्भात्' यहाँसे लेकर 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' इस श्लोक तक यह कहा गया कि आत्मज्ञानरहित अधिकारीको आत्मज्ञान-निष्ठाकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये । और 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' से लेकर 'मोघं पार्थ स जीवति' यहाँतकके श्लोकोंमें कर्म करनेमें वहुत-से कारण भी कहे गये एवं कर्म न करनेमें वहुत-से दोष भी वतलाये गये ॥ १६ ॥

आगे कहे जानेवाले प्रकरणका भाव यह है कि—सृष्टि-चक्रके अनुसार सवको कर्मयोगका अनुष्ठान करना चाहिये अथवा सांख्ययोगमें जिनको निष्ठा नहीं प्राप्त है ऐसे अज्ञानीको ही सांख्ययोगमें निष्ठा-प्राप्तिके लिये उपायभूत कर्मयोगको करना चाहिये ?—इस प्रश्नके उत्तरमें अथवा शास्त्रके अर्थको यथार्थ वतलानेके लिये—ज्ञानियोंको आत्मज्ञाननिष्ठासे अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं है, यह श्रुतिका यथार्थ है । इसी यथार्थ-का प्रतिपादन करना इस गीतामें भी भगवान्‌को भी इष्ट है, उस श्रुतिके तात्पर्यको प्रकट करनेके लिये भगवान् वोले—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

जिस आत्मज्ञाननिष्ठ सांख्ययोगीकी केवल आत्मामें ही रति है एवं आत्मामें ही तृप्ति है और जो आत्मामें ही संतुष्ट है उस आत्मज्ञानीके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है ।। १७ ।।

और भी वात है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१८।।

परमात्मामें रत उस सांख्यगोगीको कर्म करनेका कोई प्रयोजन नहीं । एवं न करनेसे भी कोई प्रत्यवाय (पाप) अथवा आत्महानि नहीं और ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त प्राणीमें कुछ प्रयोजन नहीं रहता ।। १८ ।।

परन्तु तुम परिपूर्ण जलाशयरूप यथार्थ ज्ञानमें स्थित नहीं हो, इसलिये—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।१९।।

आसक्तिरहित होकर कर्तव्य कर्मका निरन्तर आचरण करो । अनासक्त—फलासक्तिरहित भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करता हुआ मनुष्य कर्मसे अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके परमपद प्राप्त कर लेता है ।। १९ ।।

और भी वात है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।२०।।

पहलेके भी विद्वान् जनकादि यदि यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर चुके थे तव तो प्रारब्धकर्मा होनेसे उनका कर्म कर्माभास था । वे

केवल लोकसंग्रहके लिये ही कर्म करते थे। और यदि यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं था तब वे कर्मोंसे अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा ही क्रमशः परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। अतः तुम भी यदि अपनेको ज्ञानी समझते हो तो भी लोकसंग्रहको देखते हुए तुमको कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

लोकसंग्रह कैसे और किसको करना चाहिये ? इसपर कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ—प्रधान पुरुष जिस-जिस कर्मका आचरण करता है, उसके अनुयायी दूसरे लोग भी तत्-तत् कर्मका आचरण करते हैं। एवं वह प्रधान पुरुष लौकिक या वैदिक जिस-जिसको प्रमाण मानता है, दूसरे लोग भी उसीको प्रमाण मानते हैं ॥ २१ ॥

भगवान् कहते हैं—लोकसंग्रह-कर्तव्यमें तुम्हें कुछ शंका है तो मुझको क्यों नहीं देखते—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

पार्थ ! तीनों लोकोंमें मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है, क्योंकि मुझे किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त नहीं करना है तथापि कर्मोंमें लगा रहता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि आलस्यरहित होकर मैं कर्म न करूँ तो हे पार्थ ! सब मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण कर रहे हैं ।। २३ ।।

तो इसमें क्या दोष होगा ? सो सुनो—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।

कर्म मैं न करूँ तो लोकस्थितिके लिये किये जानेवाले कर्मोंका अभाव हो जायगा और कर्माभावसे मैं वर्णसंकरका कर्ता होऊँगा तथा सब प्रजाओंका विनाश करनेवाला बन जाऊँगा ।। २४ ।।

मेरे ही समान तू या अन्य कोई भी आत्मज्ञानी कृतार्थबुद्धि हो तो भी उसको दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिये कर्म करना ही चाहिये—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

अर्जुन ! कर्मोंमें आसक्त—फल चाहनेवाले अज्ञानी जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही फलासक्तिरहित होकर लोकसंग्रहकी इच्छासे आत्मवेत्ता विद्वान्को भी कर्म करना चाहिये ।। २५ ।।

मेरा या आत्मवेत्ताका लोकसंग्रहको छोड़कर दूसरा कर्तव्य नहीं है । अतः ऐसे आत्मवेत्ताके लिये यह उपदेश है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।२६।।

कर्मफल चाहनेवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद नहीं करना चाहिये । किन्तु आत्मज्ञानी अनासक्त एवं समाहित होकर स्वयं कर्म करता हुआ उनको कर्ममें लगावे ।। २६ ।।

अज्ञानी कर्मोंमें कैसे आसक्त होते हैं ? सुनो—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृति—गुणोंकी साम्यावस्था, उसके गुण—कार्य-करण अर्थात् देह-इन्द्रियादि, इनसे होनेवाले कर्मोंमें अहंकारविमूढात्मा—देहाभिमानी 'मैं करता हूँ' ऐसा मानता है। भाव यह कि प्रकृतिके गुणोंसे होनेवाले कर्मोंको अपनेमें आरोप करके कहता है कि 'मैं करता हूँ' ॥ २७ ॥

जो ज्ञानी है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

हे महाबाहो ! तत्त्ववित् याने गुण और कर्मके विभागको जाननेवाला ज्ञानी 'इन्द्रियरूप गुण विषयरूप गुणमें व्यापार कर रहे हैं, आत्मा असङ्ग है'—यह जानकर कर्ममें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

और जो—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिके गुणोंसे विमूढ मनुष्य गुणोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंमें आसक्त होते हैं अर्थात् फल चाहते रहते हैं। उन मन्दबुद्धियोंको आत्मज्ञानी विचलित न करे अर्थात् कर्मोंसे न छुड़ावे, बल्कि अपने अनासक्त भावसे कर्म करता हुआ उनको भी कर्ममें प्रवृत्त करता रहे ॥ २९ ॥

कर्माधिकारी अज्ञानी मुमुक्षु पुरुषको कैसे कर्म करना चाहिये ? इसपर कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

विवेकबुद्धिसे मुझ सर्वात्मा सर्वज्ञ परमेश्वर वासुदेवके लिये सब कर्मोंको अर्पण करके फलसे एवं ममतासे रहित हो सन्ताप त्यागकर युद्ध करो ॥ ३० ॥

कर्म करना चाहिये—यह मेरा मत प्रमाणसहित होनेसे यथार्थ है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

मुझ गुरु वासुदेव ईश्वरमें दोष नहीं देखकर एवं श्रद्धायुक्त होकर जो मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे मनुष्य भी पाप-पुण्यरूप कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

और—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

जो मेरे इस मतकी निन्दा करते हैं तथा मेरे मतके अनुसार आचरण नहीं करते हैं, उन सर्वज्ञानविमूढ अविवेकियोंको नष्ट हुए जानो ॥ ३२ ॥

क्यों आपके मतके अनुकूल नहीं चलते एवं स्वधर्माचरण छोड़कर दूसरेका धर्म पालन करते हैं ? और आपके शासनका उल्लंघन करनेमें डरते क्यों नहीं ? इसपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानी और अज्ञानी सभी प्राणी अपनी प्रकृति—पूर्वजन्मकृत पाप-पुण्यके इस वर्तमान जन्ममें प्रकट संस्कारके अनुसार ही कर्म करते हैं। स्वभावसे प्रवृत्त प्राणीके लिये मेरा या अन्य किसीका भी शासन क्या कर सकता है ॥ ३३ ॥

यदि प्रकृतिसे रहित कोई प्राणी है ही नहीं, सभी प्राणी अपने-अपने स्वभावके अनुरूप ही चेष्टा करते हैं, तब तो पुरुषका प्रयत्न व्यर्थ है और पुरुषका प्रयत्न व्यर्थ होनेपर विधि-निषेध करनेवाले शास्त्र भी अनर्थक हो जायेंगे ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

सभी इन्द्रियोंके विषयोंमें राग और द्वेष स्वभावसे ही रहते हैं अर्थात् अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष—ये दोनों बने रहते हैं। शास्त्रानुसार व्यवहार करनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि विषयोंमें प्रवृत्त होनेके पहले ही राग-द्वेषके वशमें न हों। राग-द्वेष ही इस जीवके परिपन्थी हैं अर्थात् मोक्षमार्गमें विघ्न करनेवाले हैं ॥ ३४ ॥

राग-द्वेषसे प्रेरित मनुष्य तो शास्त्रके अर्थको अनर्थ—उलटा मानता है तथा 'परधर्म भी धर्म ही है' यह मानकर परधर्मको अनुष्ठान करने योग्य मानता है। परन्तु यह मानना अनुचित है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अत्यन्त श्रेष्ठ परधर्मकी अपेक्षा गुणहीन भी अपना धर्म कल्याण करनेवाला होता है। अपने धर्ममें स्थित रहकर मरना अच्छा, किन्तु परधर्म तो नरकादिका भय देनेवाला होता है ॥३५॥

विषयोंको ही अनर्थका मूल कारण कहा गया है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः' 'रागद्वेषौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' इत्यादि। किन्तु भिन्न-भिन्न रूपसे कहे जानेके कारण अनिश्चित ही है, इसलिये अनर्थोंका कारण ठीक यही है, यह निश्चय हो जाय, तो इसके समूल उच्छेदका प्रयत्न करूँ—इस विचारसे अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

हे वार्ष्णेय—वृष्णिकुलमें उत्पन्न कृष्ण! स्वयं न चाहता हुआ भी यह पुरुष बलपूर्वक किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है? ॥ ३६ ॥

सब अनर्थोंके कारणरूप जिस शत्रुको तुम पूछते हो, उस वैरीको सुनो।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले—भगवान् शब्दका अर्थ—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥
(श्रीविष्णुपुराण ६।५।७४,७८)

समस्त प्राणियोंको जिसके द्वारा सब अनर्थ प्राप्त होते हैं, वह यह काम है। जब यह काम किसीसे बाधित होता है अर्थात् जब कामकी पूर्तिमें किसी कारण बाधा होती है तब यह काम ही क्रोधरूपमें बदल जाता है, अतः क्रोध भी यही है। यह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ है। यह काम महाशन (पेटू)—बहुत खानेवाला है, इसीलिये यह काम महापापी है। कामसे प्रेरित होकर जीव बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठता है ॥ ३७ ॥

और किस प्रकार यह वैरी है? इसमें दृष्टान्त—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

अपनेसे ही उत्पन्न धूएँसे जैसे अग्नि एवं मलसे दर्पण और जरायु (चर्मविशेष) से जैसे गर्भ आच्छादित होता है, वैसे ही कामसे यह (विवेक) आवृत हो जाता है ॥ ३८ ॥

ऊपरके श्लोकमें 'इदम्' शब्दसे कहा हुआ कौन है? उसको बताते हैं—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

कुन्तीपुत्र! इस नित्य वैरी कामसे ज्ञानीका ही ज्ञान ढकता है। ज्ञानी ही जानता है कि कामके द्वारा ही मैं अनर्थमें लगाया गया हूँ। इससे ज्ञानी सदा दुःखी भी रहता है, अतः यह ज्ञानीके ही ज्ञानको ढकता है, मूर्खके नहीं। यह काम इच्छास्वरूप ही है, अतः यह कभी पूरा नहीं होता—'न अस्य अलम्' ॥ ३९ ॥

ज्ञानको आच्छादित करनेवाले कामका आश्रयस्थान कहाँ है? शत्रुके स्थानको जाननेपर सुखसे उसका विनाश किया जा सकता है। इसपर कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब कामके आश्रय (स्थान) हैं। इनके द्वारा ही यह ज्ञानको आच्छादित करके जीवको अनेक प्रकार मोहित करता है ॥ ४० ॥

इसलिये—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

हे भरतर्षभ ! तुम पहले इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान एवं विज्ञानके नाश करनेवाले पापाचारी शत्रु इस कामको त्यागो ॥ ४१ ॥

इन्द्रियोंको वशमें करके शत्रु कामको त्यागनेके लिये कहा। तो किसका आश्रय लेकर इसका त्याग करें ? सो कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

स्थूल देहकी अपेक्षा सूक्ष्म अन्तरस्थ और व्यापक होनेसे इन्द्रियोंको श्रेष्ठ कहते हैं। और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म संकल्प-विकल्पात्मक मनको श्रेष्ठ कहते हैं। और मनकी अपेक्षा निश्चयात्मिका बुद्धिको श्रेष्ठ कहते हैं। जो काम इन्द्रियादिकोंका आश्रय करके ज्ञानावरणद्वारा जिसको मोहित करता है, वह ज्ञानात्मा देहसे बुद्धिपर्यंन्त समस्त दृश्योंसे भीतर है और बुद्धिका भी द्रष्टा है, वह सबसे श्रेष्ठ होनेसे परमात्मा है। इसीका आश्रय लें ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

हे महाबाहो ! बुद्धिसे भी पर—श्रेष्ठ आत्माको जानकर शुद्ध मनसे आत्माको समाधिस्थ करके दुरासद—दुर्विज्ञेय काम-रूप शत्रुको त्यागो ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

इसके पहले द्वितीय और तृतीय अध्यायमें संन्याससहित ज्ञाननिष्ठायोग एवं ज्ञाननिष्ठा-प्राप्तिके उपाय कर्मयोगका वर्णन किया गया। इसीमें समस्त वेदका प्रवृत्तिरूप धर्म और निवृत्ति-रूप धर्म दोनोंका तात्पर्य आ जाता है। समस्त गीतामें यही ज्ञानयोग विवक्षित है। इसीमें सम्पूर्ण वेदार्थ समाप्त हो जाता है। इसलिये वंश-परम्परा-कथनके द्वारा ज्ञाननिष्ठायोगकी स्तुति करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—पूर्वोक्त प्रवृत्तिलक्षण तथा निवृत्तिलक्षण दोनों योगोंको सृष्टिके आदिमें मैंने सूर्यसे कहा था, सूर्यने मनुको एवं मनुने इक्ष्वाकुको कहा। इस योग-बलके सामर्थ्यसे क्षत्रिय ब्राह्मणत्वकी रक्षामें ठीक-ठीक समर्थ होते हैं। ब्राह्मण और

क्षत्रियोंकी रक्षा हो जानेपर ये दोनों समस्त जगत्का पालन ठीक-ठीक कर लेते हैं। यह योग अव्यय है, इसका मोक्षरूप फल कभी नष्ट नहीं होता है ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

हे परन्तप ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए योगको राजा और ऋषियोंने जाना, किन्तु बहुत काल बीतनेपर मनुष्यलोकमें इसकी सम्प्रदाय-परम्परा नष्ट हो गयी है ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वही (पहले कहा हुआ) पुरातन योग अब हम तुमसे कह रहे हैं, क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा प्रिय सखा हो। यह योग उत्तम और रहस्यमय है ॥ ३ ॥

भगवान्ने असङ्गत बात कही—यह किसीको शङ्का न हो जाय, इसपर अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्यका जन्म सृष्टिके आदिमें हुआ था, तो मैं कैसे जानूँ कि यह योग आपने आदि-कालमें सूर्यसे कहा था ॥ ४ ॥

भगवान् वासुदेवके विषयमें मूर्खोंकी यह शङ्का है कि ये भगवान् या सर्वज्ञ नहीं हैं। इस शङ्काको दूर करनेके लिये अर्जुनका प्रश्न था। उसका परिहार करते हुए भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत जन्म बीत चुके, इसे तुम नहीं जानते, क्योंकि तुम्हारा ज्ञान आच्छादित है; किन्तु हे परन्तप ! मैं तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला हूँ, मेरा ज्ञान आवृत नहीं है अतः मैं उन सबको जानता हूँ ॥ ५ ॥

आप नित्य हैं, पाप-पुण्यके सम्बन्धसे रहित ईश्वर हैं तो आपका जन्म कैसे होता है ? इसपर भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अजन्मा, अव्ययात्मा—अक्षीण शक्ति-स्वभाववाला, समस्त प्राणियोंका नियमन करनेवाला ईश्वर हूँ तो भी मैं अपनी वैष्णवी मायाशक्तिका अवलम्बन करके उत्पन्न होता हूँ ॥ ६ ॥

वह जन्म कब और किस कारण होता है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

प्राणियोंके अभ्युत्थान और निःश्रेयस् अर्थात् इहलोक तथा परलोकमें उन्नति और मोक्षके साधनरूप वर्णाश्रम धर्मकी जब-जब हानि एवं अधर्मका उत्थान होता है, तब-तब मैं प्रकट होता हूँ ॥७॥

तब क्या करता हूँ—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधुओं (सन्मार्गस्थ—शास्त्रमार्गी) की रक्षा एवं दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये युग-युगमें आविर्भूत होता हूँ ॥ ८ ॥

वह—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मायारूप मेरा जन्म एवं साधु-रक्षण आदि कर्म दिव्य हैं । इसको जो तत्त्वसे जानता है वह इस शरीरके त्यागनेके बाद पुनर्जन्म नहीं लेता, मुझको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

यह मोक्षमार्ग नवीन नहीं है, किन्तु—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोधसे रहित अभेददर्शी ब्रह्मवेत्ता और मुझ परमेश्वरके आश्रित ज्ञाननिष्ठ बहुत-से महापुरुष ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर ईश्वरभाव—मोक्षको प्राप्त हो गये हैं । इस श्लोकमें 'ज्ञानतपसा' पदका तात्पर्य यह है कि मोक्ष-प्राप्तिमें ज्ञान स्वतन्त्र है, अन्य तपकी अपेक्षा नहीं करता है ॥ १० ॥

आप किसीको आत्मभाव प्रदान करते हैं और किसीको नहीं करते, तो क्या आपमें राग-द्वेष है ? उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो मुझे जिस प्रयोजनसे भजता है, उसकी कामनाके अनु-सार ही फल देकर मैं अनुग्रह करता हूँ और जो निष्प्रयोजन

अर्थात् फल-कामनासे रहित भजन करता है उसको ज्ञान देकर तथा जो ज्ञानी संन्यासी हैं उन्हें मोक्ष देकर और आर्तोंका दुःख दूर करके—इस प्रकार जो जिस तरहसे मुझको भजता है उसको मैं भी उसी प्रकार भजता हूँ, राग-द्वेष या मोहसे नहीं भजता हूँ। इस रहस्यको जानकर बुद्धिमान् पुरुष मेरे बताये मार्गसे ही मेरा अनन्य भावसे भजन करते हैं ॥ ११ ॥

सभी प्राणियोंपर राग-द्वेषसे रहित आप ईश्वरकी दया समान है और आप सब फल देनेमें समर्थ हैं, तब सब प्राणी मुमुक्षु होकर आपको ही क्यों नहीं भजते हैं ? इसका कारण सुनो—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्म-फल-प्राप्तिकी कामनासे मनुष्य इस लोकमें इन्द्र, अग्नि आदि देवताओंकी पूजा करते हैं। उनको कर्मसे सिद्धि—फल-प्राप्ति भी शीघ्र होती है। यहाँ 'क्षिप्रं हि मानुषे लोके'से भाष्यकार यह विशेषता दिखाते हैं कि अन्य लोकोंमें भी फल मिलता है किन्तु वर्णाश्रमाधिकारी होनेसे मनुष्यलोकमें कर्मजनित फल शीघ्र मिलता है ॥ १२ ॥

इस मनुष्यलोकमें ही वर्णाश्रमकर्मका अधिकार है, अन्य-लोकमें नहीं—यह नियम क्यों ? अथवा वर्णाश्रमी नियमपूर्वक आपके ही मार्गका अनुसरण क्यों करते हैं, दूसरेके मार्गका क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर अगले श्लोकमें है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

सत्व, रज और तम—तीन गुणोंके विभागसे और कर्मोंके विभागसे ये चारों वर्ण मुझसे रचे हुए हैं। सत्वगुणप्रधान ब्राह्मणके शम, दम, तप इत्यादि कर्म हैं एवं सत्वगुणगौण रजोगुणप्रधान क्षत्रियके शूरवीरता और तेज प्रभृति कर्म हैं। तथा तमोगुणगौण और रजोगुणप्रधान वैश्यके कृषि आदि कर्म हैं और रजोगुणगौण तमोगुणप्रधान शूद्रका सेवा कर्म है। इस प्रकार गुण-कर्मके विभागसे चारों वर्ण मुझसे रचे गये हैं। इस प्रकारकी वर्णव्यवस्था अन्य लोकोंमें नहीं है। यद्यपि मायाके द्वारा सबकी रचना मैं करता हूँ तो भी मुझे अकर्ता, अव्यय और असंसारी ही समझो ॥ १३ ॥

तुम जिन कर्मोंके कर्ता मुझको मानते हो, वास्तवमें मैं कर्ता नहीं हूँ—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

देहादिकी उत्पत्तिके कारण कर्म मुझको लिप्त नहीं करते हैं और उन कर्मोंके फलकी तृष्णा भी मुझको नहीं है। संसारी जीवोंको 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान रहता है, और कर्म-फलकी स्पृहा भी रहती है, इसीलिये उनको कर्म लिप्त करते हैं, मुझमें अभिमान और स्पृहा दोनों नहीं हैं अतः कर्म लिप्त नहीं करते हैं। इस प्रकार दूसरा कोई भी मुझको आत्मरूपसे जानता है उसको भी कर्म लिप्त नहीं करते अर्थात् वह कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

न मैं कर्ता हूँ, न मुझे कर्म-फलकी स्पृहा ही है—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

इस प्रकार जानकर पहले भी मुमुक्षु पुरुषोंने कर्म किये थें, अतः चुपचाप बैठना और संन्यास लेना भी तुम्हारा कर्तव्य नहीं, पूर्वजोंके द्वारा आचरण किये कर्म तुम भी करो ।। १५ ।।

कर्म करना ही है तो मैं आपके वचनसे ही कर्म करूँगा । 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' कहनेकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।

बड़े-बड़े बुद्धिमान् मेधावी भी 'कर्म क्या है और अकर्म क्या है'—इस विषयमें मोहित हो जाते हैं, अतः तुमको कर्म और अकर्म कहूँगा । उसको जानकर तुम अशुभ अर्थात् संसारसे मुक्त हो जाओगे ।। १६ ।।

तुमको ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शरीरादिसे होनेवाली चेष्टाका नाम कर्म है और चुपचाप बैठनेका नाम अकर्म है, उसमें जाननेकी क्या बात है ? इसपर कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।१७।।

कर्म—शास्त्रविहित कर्मका रहस्य जानना चाहिये, विकर्म—निषिद्ध कर्मका भी रहस्य जानना चाहिये, अकर्म—चुप बैठनेका भी रहस्य जानना चाहिये । इनके यथार्थ स्वरूपको जानना गहन है ।। १७ ।।

कर्मोंका तत्त्व क्या है, जो जानने योग्य है ? सुनो—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।

इस श्लोकमें लौकिक जीवोंकी कर्म और अकर्ममें जो विपरीत दृष्टि है, उसको दूर करके यथार्थ दृष्टि करनेका उपदेश भगवान् कर रहे हैं। लौकिक दृष्टि यह है कि अकर्म—क्रियारहित आत्मामें 'मैं कर्ता हूँ, मुझको इस कर्मका अमुक फल मिलेगा'—यों अकर्म आत्मामें कर्म देखना विपरीत दृष्टि है। इस दृष्टिको दूर करके यथार्थ दृष्टि करे अर्थात् कर्ममें अकर्म देखे—'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' यह कहा। कहा भी है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(गीता ३। २७)

इसी प्रकार क्रियाको त्यागकर चुप बैठनेका नाम अकर्म है—यह लोकदृष्टि भी विपरीत है; क्योंकि कर्मत्याग करके चुप बैठना कर्म ही है, इस कर्ममें अकर्म देखना विपरीत देखना ही है। इस विपरीत दृष्टिको दूर करके 'अकर्मणि च कर्म यः' अर्थात् अकर्ममें कर्म देखे। इस प्रकार विपरीत दृष्टिको दूर करके जो यथार्थ दृष्टि याने कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है, इसका फल भी कहते हैं—वह मनुष्योंमे बुद्धिमान् है एवं वह योगी है और समस्त कर्मोंका करनेवाला है ॥ १८ ॥

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेकी स्तुति करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

ऊपर कहे गये कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म देखनेवाले पुरुषके समस्त समारम्भ (कर्म) काम और कामके बीज संकल्पसे रहित हो जाते हैं। और जिसके कर्ममें अकर्म एवं अकर्ममें

कर्म-दर्शनरूप ज्ञानाग्निसे सम्पूर्ण पाप-पुण्यरूप कर्म जल गये हैं, उसको ब्रह्मवेत्तालोग पण्डित कहते हैं ।। १९ ।।

ऊपर कही गयी ज्ञानाग्निसे जिसका कर्म दग्ध हो गया, वह यदि कुछ कर्म करता भी है तो निष्प्रयोजन होनेसे उसका कर्म अकर्म ही हो जाता है । इसी अभिप्रायसे भगवान् बोले—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

ऊपर कहे गये ज्ञानसे अभिमान और फलासक्तिका त्याग करके जो नित्य तृप्त रहता है तथा इहलोक और परलोकके इष्ट फलसाधनरूप आश्रयसे रहित है, उस ज्ञानीद्वारा किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, क्योंकि वह निष्क्रिय आत्म-दर्शनसे संपन्न है ।। २० ।।

इससे अन्य जो ज्ञाननिष्ठ यति आरम्भसे ही इहलोक और परलोकके समस्त इच्छित भोगोंकी आशासे रहित है, वह तो कर्मोंसे कोई प्रयोजन न समझकर कर्म और कर्मोंके साधन यज्ञोपवीतादिको भी त्यागकर मुक्त हो जाता है—इसी भावको दिखाते हुए कहते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

सम्पूर्ण आशासे रहित होकर जिसने चित्त—अन्तःकरण और कार्य-करणके संघात शरीरको अपने वशमें कर लिया है, और जो परिग्रह—सम्पूर्ण भोग-सामग्रीको त्यागकर शरीरस्थितिमात्र चेष्टा करता है, उसको किल्बिष—पाप-पुण्य नहीं प्राप्त होता ॥ १ ।।

जो संन्यासी समस्त संग्रहका त्याग कर चुका है, उसके लिये शरीर-निर्वाहकी जो शास्त्रमें विधि कही गयी है, उसको कहते हैं—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जिसको विना माँगे मिले हुए पदार्थोंमें ही 'यह पर्याप्त है' यह ज्ञान होता है, और जो द्वन्द्व—शीत-उष्णादिसे अतीत है तथा ईर्ष्यासे रहित निर्वैर है एवं सिद्धि-असिद्धिमें समान है, उस आत्मदर्शीको शरीरस्थितिमात्रके लिये किये जानेवाले भिक्षाटनादि कर्म भी वन्धनके कारण नहीं होते अर्थात् वह कर्मसे नहीं वँधता है ॥ २२ ॥

जिस कर्मयोगीके लिये यह कहा गया कि 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' कर्मफलासक्तिसे रहित होकर किया हुआ कर्म भी अकर्म हो है, उसीके विषयमें कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जिसकी सब प्रकारकी आसक्ति निवृत्त हो गई है एवं जो पाप-पुण्यके वन्धनसे छूट चुका है तथा ज्ञानमें जिसका मन स्थित है अर्थात् फलासक्तिहीन, मुक्त और ज्ञानावस्थितचित्त पुरुषके यज्ञसम्पादनके लिये किये हुए समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥

किये हुए कर्म फल दिये विना विलीन कैसे हो जाते हैं? उत्तरमें कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

आत्मासे भिन्न अन्य किसी पदार्थको न देखनेवाला ब्रह्मवेत्ता जिस साधनसे अग्निमें हवि अर्पण करता है, उस साधनको ब्रह्मरूप ही देखता है। जैसे सीपको जाननेवाला सीपमें चाँदीका अभाव देखता है, वह समझता है कि सीप ही चाँदीके समान दीखती है। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता हवि—अर्पणके साधन स्रुक्-स्रुव आदिको ब्रह्म ही देखता है। इस प्रकार हविमें भी ब्रह्मदृष्टि करता है याने ब्रह्मको ही हविरूपमें देखता है एवं ब्रह्माग्नौ—ब्रह्मरूप कर्ताद्वारा जिसमें हवन किया जाता है वह अग्नि भी ब्रह्म ही है और ब्रह्मकर्ममें स्थित पुरुषद्वारा प्राप्त होनेवाला फल भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताके द्वारा लोकसंग्रहके लिये किया गया कर्म वास्तवमें अकर्म ही हो जाता है ॥ २४ ॥

ऊपरके श्लोकमें सम्यग्दर्शन—ज्ञानको यज्ञरूपमें सम्पादन करके उसकी स्तुति करनेके लिये अन्य यज्ञोंका भी कथन करते हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

कई कर्मयोगी यज्ञमें जिन देवोंका पूजन होता है उन देवोंकी ही यज्ञरूपसे उपासना करते हैं एवं अन्य कई कर्मयोगी ब्रह्मरूप अग्निमें ही यज्ञानुष्ठान करते हैं, कई यज्ञमें यज्ञको अर्थात् यज्ञशब्दसे वाच्य आत्मामें आत्माको हवन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

कई योगी संयमरूप अग्निमें इन्द्रियोंको हवन करते हैं— इन्द्रिय-संयम करते हैं एवं कई इन्द्रियरूप अग्निमें शब्दादि विषयोंको ही हवन करते हैं अर्थात् शास्त्रानुसार विषयोंका ग्रहण करते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

कई समस्त इन्द्रियके एवं प्राणके कर्मोंको आत्मसंयमरूप योगाग्नि—विवेक-विज्ञान एवं आत्मविज्ञानसे दीपित—प्रज्वलित अग्निमें हवन करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कई द्रव्ययज्ञ, कई तपोयज्ञ, कई योगयज्ञ—प्राणायामादि यज्ञ, कई स्वाध्याययज्ञ तथा कई शास्त्रार्थ-परिज्ञानरूप ज्ञानयज्ञमें यत्नशील हैं एवं कई दृढ़रूपसे व्रतमें लगे हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कई अपानमें प्राणको और कई प्राणमें अपानको हवन करते हैं । कई प्राणापान दोनोंको रोक करके प्राणायाममें लगे रहते हैं ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कितने ही नियताहारी अर्थात् परिमितभोजी पुरुष प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं। ये सभी योगी यज्ञोंके ज्ञाता हैं एवं यज्ञोंद्वारा समस्त कल्मष—पापोंको नष्ट कर चुके हैं ॥३०॥

ऊपर कहे यज्ञोंका सम्पादन करके—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञोंसे वचे समयके द्वारा यथाविधि प्राप्त अन्न अमृत कहलाता है, उस विहित अमृतरूप अन्नका भोजन करनेवाला यज्ञशिष्टाशी है—अमृतभोजी है; वह अमृतभोजी चिर सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। हे कुरुसत्तम! ऊपर कहे यज्ञोंमेंसे एक भी यज्ञ जो नहीं करता है ऐसे प्राणीको यह लोक भी नहीं मिलता, अन्य लोकोंका तो कहना ही क्या है ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऊपर कहे गये यज्ञ वेदमुखसे वहुत विस्तारपूर्वक कहे गये हैं। वे सव यज्ञ कर्मज हैं अर्थात् काया, वाचा और मनकी क्रियाद्वारा ही सम्पन्न होते हैं, तथा आत्मा असंग, निष्क्रिय एवं उदासीन है—ऐसा जानकर तुम संसार-वन्धनसे छूट जाओगे ॥ ३२ ॥

'ब्रह्मार्पणम्' इस श्लोकसे सम्यग्दर्शन—ज्ञानयज्ञका वर्णन करके अन्य वहुत-से यज्ञोंका वर्णन किया, अव अन्य यज्ञोंकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञकी स्तुति करते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परंतप ! द्रव्यमय—साध्य-साधनरूप यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि द्रव्यमय यज्ञके फलस्वरूप जन्मादि होते हैं और ज्ञानयज्ञ जन्मादिका कारण नहीं होता, अतः ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ ! सब कर्म मोक्षके साधन ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

अब उस श्रेष्ठ ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

आचार्यके समीप जाकर दण्डवत् प्रणाम करनेसे एवं 'बन्ध कैसे हुआ ? मुक्ति कैसे होगी ? विद्या और अविद्या क्या है ?' इस प्रकारके प्रश्नसे और यथायोग्य सेवा करनेसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी आचार्य तुमको ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

उनके द्वारा वर्णित उपदेशसे ज्ञान प्राप्त करके फिर ऐसा मोह नहीं प्राप्त करोगे। तथा सब भूतोंको आत्मामें देखोगे और आत्माको मुझ परमात्मामें देखोगे अर्थात् जीवात्मा और परमात्मामें प्रसिद्ध एकताको प्रत्यक्ष अनुभव करोगे ॥ ३५ ॥

ज्ञानका माहात्म्य क्या है ? सो सुनो—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सब पाप करनेवालोंमें भी यदि तू अतिशय पाप करनेवाला हो तो भी ज्ञानरूपी नौकासे पापरूप समुद्रको तर जायगा। यहाँ मुमुक्षुके लिये धर्म भी पाप ही कहा जाता है, क्योंकि धर्मका फल जन्म है ॥ ३६ ॥

ज्ञान कैसे पापोंका नाश करता है ? इसमें दृष्टान्त—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

जैसे सम्यग् प्रज्वलित अग्नि काष्ठके समूहको भस्म कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देता है। भाष्यकार कहते हैं—'येन कर्मणा शरीरं आरब्धं तत्प्रवृत्तफलत्वात् उपभोगेन एव क्षीयते। अतो यानि अप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् कृतानि ज्ञानसहभावीनि च अतीतानेकजन्मकृतानि च तानि एव सर्वाणि भस्मसात् कुरुते।' अर्थ—जिस कर्मसे शरीर उत्पन्न हुआ है वह फल देनेके लिये प्रवृत्त है, उसका क्षय तो उपभोगसे ही होगा। किन्तु जो फल देनेको प्रवृत्त नहीं हुए हैं, उन ज्ञान होनेके पहले एवं ज्ञानके साथ इस जन्मके और बीते हुए अनेक जन्मोंके संचित कर्मोंका ज्ञानसे क्षय हो जाता है ॥ ३७ ॥

ज्ञानका इतना महत्व है, अतः—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

ज्ञानके तुल्य पवित्र—शुद्ध करनेवाला अन्य कुछ नहीं है। वह ज्ञान कर्मयोग और समाधियोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण होनेसे

समयपर स्वयं अपने आप जाना जाता है अर्थात् प्राप्त हो जाता है ।। ३८ ।।

ज्ञान-प्राप्तिका निश्चित उपाय कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।३९।।

श्रद्धालु ज्ञान प्राप्त करता है । यह भी जानना चाहिये कि श्रद्धावान् होनेपर भी कोई अजितेन्द्रिय हो सकता है; अतः श्रद्धालु, ज्ञान-प्राप्तिमें तत्पर और संयतेन्द्रिय अवश्य ज्ञान प्राप्त करता है एवं ज्ञान प्राप्त होनेपर तत्काल ही मोक्षरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।। ३९ ।।

इसमें संशय नहीं करना चाहिये, क्योंकि संशय पापी है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४०।।

अज्ञ—आत्मज्ञानसे रहित, अश्रद्धालु और संशयात्मा—ये तीनों नष्ट होते हैं, तथापि जैसा संशयात्मा नष्ट होता है वैसा अज्ञ एवं अश्रद्धालु नष्ट नहीं होता । संशयात्मा—जिसके चित्तमें संशय है उसको न यह साधारण मनुष्यलोक मिलता है न परलोक और न सुख ही मिलता है; क्योंकि उसे वहाँ भी संशय हो सकता है । अतः संशय नहीं करना चाहिये ।। ४० ।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१।।

परमार्थज्ञानरूप योगसे समस्त कर्मोंका जो त्याग कर चुका है, उस योगसंन्यस्तकर्मा, तथा ब्रह्मात्मैकत्व—ब्रह्म और आत्मा+

में एकत्व-दर्शनसे जिसका संशय नष्ट हो गया है ऐसे ज्ञान-संछिन्नसंशय आत्मवान्को हे धनंजय! कर्म नहीं बाँधते अर्थात् इष्ट, अनिष्ट और मिश्र—ये तीनों कर्म फलोंका भोग नहीं करवाते ।। ४१ ।।

कर्मयोगके अनुष्ठानसे शुद्धान्तःकरण होनेपर उत्पन्न ज्ञानसे जिसका संशय नष्ट हो गया है, उसका कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जानेसे नहीं बाँधता अर्थात् उसे कर्मफल नहीं भोगना पड़ता। और ज्ञानयोग तथा कर्मयोगमें जो संशय करता है, वह नष्ट हो जाता है—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४२।।

इसलिये हे अर्जुन! अज्ञानसे उत्पन्न, बुद्धिमें रहनेवाले पापी संशयको विवेकरूप तलवारसे काटकर ज्ञानप्राप्तिके साधन कर्मयोगमें स्थित हो युद्धके लिये उठ जाओ ।। ४२ ।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' यहाँसे आरम्भ करके 'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्', 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्', 'शारीरं केवलं कर्म', 'यदृच्छालाभसंतुष्टः', 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः', 'कर्मजान्विद्धि तान् सर्वान्', 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि', 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' यहाँतक सब वचनोंसे भगवान्ने सब कर्मोंके संन्यासका वर्णन किया। एवं 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठो-

त्तिष्ठ भारत' इस वचनसे कर्मानुष्ठानयोगमें स्थित होकर कर्म करनेका भी उपदेश दिया।

इन दोनों याने कर्मयोग और संन्यासयोगका परस्पर अत्यन्त विरोध प्रतीत होता है, एक पुरुषके द्वारा एक साथ दोनोंका अनुष्ठान करना बन नहीं सकता है, और काल-भेदसे अनुष्ठान करनेका विधान नहीं है; अतः दोनोंमेंसे एकका ही अनुष्ठान करना चाहिये—ऐसी भावना अर्जुनके मनमें उत्पन्न हुई।

यहाँ कोई कहते हैं कि भगवान्ने तो आत्मज्ञानीके लिये ही कर्मसंन्यासका विधान किया है, अनात्मज्ञके लिये तो नहीं। अतः कर्मानुष्ठान और कर्मसंन्यास भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये विहित होनेसे दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, यह प्रश्न ही नहीं बन सकता? इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने तो कर्मसंन्यास कर्तव्य है—यह प्रधानरूपसे कहा, अनात्मविद् कर्मसंन्यास नहीं कर सकता—यह निषेध नहीं किया। इस पक्षमें अनात्मज्ञको भी कर्मसंन्यास प्राप्त है। अतः दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है, यह प्रश्न बन सकता है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' यह स्वर्गकामनावालेके लिये विधान है; किन्तु उसीको अधिकार है, अन्यको नहीं—यह निषेध नहीं है।

तथा आत्मवित्का मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो जाता है, अतः उसके द्वारा विपरीत ज्ञानमूलक कर्मयोग होना भी सम्भव नहीं है। अतः अनात्मविद्द्वारा कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनोंका होना सम्भव है। इसलिये दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है—यह अर्जुनका प्रश्न सुतरां बन जाता है। विशेष जानना हो तो भाष्य देखें।

अतः इन कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनोंमें जो श्रेष्ठ हो, वही करना है—इस इच्छासे अर्जुन पूछता है—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण ! आपने पहले तो शास्त्रोक्त अनेक अनुष्ठान-विशेष कर्मोंका त्याग करनेको कहा और पुनः अवश्यकर्तव्य कहकर कर्मयोग भी करनेको कहते हैं । इसमें मुझे संशय है कि इनमें कौन श्रेष्ठ है । कर्मोंका अनुष्ठान करना या कर्मोंका त्याग करना—इन दोनोंमें जिस एकसे मेरा कल्याण समझते हैं वही निश्चय करके कहिये, क्योंकि एक साथ दोनोंका अनुष्ठान संभव नहीं है ॥ १ ॥

प्रश्नका निर्णय करनेके अभिप्रायसे भगवान् वोले—

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

कर्मोंका त्याग और कर्मयोगका अनुष्ठान—ये दोनों ही ज्ञान-उत्पत्तिमें कारण होनेसे कल्याण करनेवाले हैं, तो भी केवल कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

कैसे श्रेष्ठ है ? सुनो—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

वह कर्मयोगी संन्यासी ही है, जो न द्वेष करता है और न कुछ चाह ही करता है । हे महाबाहो ! राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

भिन्न-भिन्न पुरुषोंसे अनुष्ठान करने योग्य कर्मसंन्यास और कर्मयोगका फलमें भी विरोध होना चाहिये, दोनोंका कल्याणरूप एक ही फल बतलाना तो युक्त नहीं है, इस शङ्कापर कहते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्य और योग भिन्न-भिन्न विरुद्ध फल देते हैं—ऐसा बालबुद्धि—अज्ञ कहते हैं, पण्डित नहीं । पण्डित—ज्ञानी तो दोनोंको अविरुद्ध एक ही बतलाते हैं । सांख्य और योग दोनोंमें से एकका भी सम्यक् अनुष्ठान करनेसे दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है । यहाँ सांख्यका अर्थ यथार्थ ज्ञान है । इसीके साधन कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों हैं । परम्परासे ज्ञानोत्पत्तिद्वारा दोनोंका एक ही फल होता है । अतः 'कर्मसंन्यास' शब्दमें 'संन्यास' शब्द गौण है, मुख्य तो ज्ञानपूर्वक संन्यास (सांख्य) ही है ॥ ४ ॥

एकके अनुष्ठानसे दोनोंका फल कैसे पा लेता है ? सुनो—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञाननिष्ठ संन्यासीके द्वारा जो स्थान—मोक्षपद प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगीके द्वारा भी वही पद—मोक्ष प्राप्त किया जाता है । जो ज्ञानप्राप्तिके उपाय कर्मोंको ईश्वरार्पण करता है और फल नहीं चाहता, वह कर्मयोगी है; उसको परमार्थज्ञानप्राप्तिके द्वारा मोक्ष मिलता है । इसलिये फलमें एकता होनेके कारण जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

यदि ऐसी बात है कि कर्मयोगसे कर्मसंन्यास श्रेष्ठ है। तब पहले 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' अर्थात् 'कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' यह कैसे कहा था ? उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि तुमने पूछा था कि केवल कर्मसंन्यास एवं केवल कर्मयोग इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है। मैंने तदनुरूप उत्तर दिया था कि ज्ञानरहित कर्मसंन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है। यहाँ कर्मके साथ संन्यासका अर्थ गौण है। ज्ञानसहित कर्मसंन्यास तो ज्ञान-निष्ठा ही है, वही मुख्य संन्यास है, वही तो परमार्थ योग है। उसी ज्ञानका साधन तो कर्मसंन्यासयोग और कर्मयोग दोनों हैं। ये दोनों साधन कैसे हैं ? सुनो—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

कर्मयोगके बिना यथार्थ संन्यास अर्थात् ज्ञाननिष्ठाका प्राप्त होना दुष्कर-कठिन है। तथा फल न चाहकर भगवदर्पणबुद्धिसे वर्णाश्रमानुष्ठानरूप कर्मयोगसे युक्त, भगवत्स्वरूपका मनन करनेवाला मुनि ब्रह्म—परमात्मज्ञाननिष्ठारूप संन्यासको शीघ्र ही पा लेता है। यहाँ 'संन्यास'का अर्थ ब्रह्म किया गया है। क्योंकि 'न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः' (ना० उ० २।७८) अर्थात् 'संन्यास ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही पर है' ॥ ६ ॥

जब सम्यक्-ज्ञान-प्राप्तिके उपायरूप—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

योगसे युक्त विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष देह एवं इन्द्रियोंको जीतकर समस्त भूतोंके आत्माको आत्मस्वरूप देखता है, तब वह यथार्थं ज्ञानी हो जाता है। वह ज्ञानी अपने स्वरूपमें स्थित होकर लोकसंग्रहके लिये कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता है अर्थात् कर्मोंसे नहीं बँधता है ॥ ७ ॥

वह ज्ञानी यथार्थमें कुछ करता भी नहीं—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

आत्मतत्त्वके जाननेवालेका नाम है तत्त्ववित्। वह परमार्थ-दर्शी तत्त्वज्ञानी समाहित होकर यह चिन्तन करे कि मैं कुछ नहीं करता हूँ।

तत्त्व निश्चय करके कब और कैसे माने (चिन्तन) करे ?—

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

देखता, सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता, आँख खोलता एवं मूँदता हुआ भी मैं कुछ नहीं करता हूँ, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें व्यवहार कर रही हैं—ऐसा माने; यह ऊपरके आधे श्लोकसे सम्बन्ध है। जो तत्त्वज्ञानी है वह सब इन्द्रियों तथा अन्तःकरणके कर्मोंमें अकर्म देखनेवाला है; यही यथार्थ ज्ञानी सर्वकर्मसंन्यासी है, उसको कर्ममें अधिकार भी नहीं है ॥ ८-९ ॥

जो तत्त्वज्ञानी नहीं है और कर्मयोगमें प्रवृत्त है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

'मैं ईश्वरके लिये करता हूँ'—इस भावसे सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण करे। यहाँतक कि मोक्षकी भी चाह न करे। इस प्रकारका कर्मयोगी पापोंसे लिप्त नहीं होता। जैसे कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ भी जलसे लिप्त नहीं होता है ॥ १० ॥

ऐसे कर्मोंका फल केवल अन्तःकरणशुद्धिमात्र होता है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

योगी लोग 'ईश्वरके लिये ही सब कर्म करता हूँ'—इस भावसे फलासक्ति छोड़कर शरीर, मन, बुद्धिसे और ममत्वबुद्धि-रहित इन्द्रियोंसे अन्तःकरणशुद्धिके लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

इसी कर्ममें तुम्हारा अधिकार है, अतः कर्म करो—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

ईश्वरके लिये ही सब कर्म है, अपने लिये नहीं—इस प्रकार निश्चय करनेवाला कर्मयोगी कर्मफल त्याग करके ज्ञाननिष्ठामें स्थित होकर परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। यहाँ भाष्यकार कहते हैं—"सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेण इति वाक्यशेषः।" अर्थात् पहले अन्तःकरणकी शुद्धि, फिर ज्ञान-प्राप्ति, पुनः सर्वकर्म-संन्यासरूप ज्ञाननिष्ठा—इस क्रमसे शान्तिको प्राप्त होता है।

और जो अयुक्त है याने निश्चयवाला नहीं है, वह कामनासे प्रेरित होकर फलकी इच्छासे कर्म करता है और फलासक्तिसे बँध जाता है ॥ १२ ॥

और जो परमार्थदर्शी ज्ञानी है, वह—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

वशी—जितेन्द्रिय मनुष्य समस्त कर्मोंको मनसे त्याग करके अर्थात् विवेकबुद्धिसे कर्ममें अकर्म देखता हुआ सब कर्मोंको त्यागकर सुखपूर्वक रहता है। यहाँ 'सर्वकर्माणि' का अर्थ है—सब कर्म याने देह, इन्द्रिय आदिकी चेष्टा। यह चेष्टारूप कर्म शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकारके होते हैं। शास्त्रीयमें चार भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध।

ज्ञानी विवेकसे समस्त कर्मोंमें अकर्म देखता हुआ सुखसे कहाँ रहता है ? नवद्वारवाले पुरमें रहता है। दो-दो चक्षु-श्रोत्र-नासिका और एक मुख—ये सात ऊपर और मलमूत्र-त्यागके लिये दो नीचे—यों नव द्वारवाला शरीर पुर है। इस पुरमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शब्दादि विषयरूप पुरवासियोंके साथ देही—आत्मज्ञानी सब कर्मोंमें अकर्म देखता हुआ सुखसे रहता है। यहाँ यह शंका होती है कि आत्मासे नित्य सम्बन्ध रखनेवाले कर्तापन और कारयिता—प्रेरकता—ये दोनों भाव तो आत्मामें अवश्य रहेंगे ? इसका उत्तर यह है कि 'न कुर्वन्न कारयन्' अर्थात् न स्वयं करता है न शरीर-इन्द्रियादिको प्रेरणा ही करता है ॥ १३ ॥

उपर्युक्त विषयोंका स्पष्टीकरण करते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

देहादिका स्वामी आत्मा न किसीके कर्तापनको, न कर्मको और न कर्मफलसंयोगको करता है। यदि आत्मा न स्वयं करता और न कराता है तो यह सब कौन कर रहा है और कौन करा रहा है? उत्तरमें भगवान् कहते हैं—'स्वभावस्तु प्रवर्तते' अपना भाव—अविद्या प्रकृति सब कुछ कर रही है ॥ १४ ॥

यथार्थमें तो—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

विभु—व्यापक परमात्मा किसीके पापको ग्रहण नहीं करता और किसीका पुण्य भी नहीं लेता। तो भक्तलोग यज्ञ, दान और होमादि सुकृत कर्म क्यों अर्पण करते हैं? उत्तर—अज्ञानसे विवेक-ज्ञान आवृत—ढका हुआ है इसीलिये अविवेकी—संसारी जीव ही 'करता हूं, कराता हूं, खाता हूं, खिलाता हूं'—इस प्रकारके मोह-को प्राप्त हो रहे हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

जिस अज्ञानसे ढका हुआ जीव मोहित हो रहा है वह अन्तः-करणका अज्ञान जब आत्म-विवेकज्ञानसे नष्ट हो जात है, तब उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस परम परमार्थतत्त्वको प्रकाशित कर देता है ॥ १६ ॥

जो प्रकाशित हुआ परम ज्ञान है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

उस परमार्थतत्त्वमें जिनकी बुद्धि स्थित हो गयी है वे 'तद्बुद्धि' हैं, वही परब्रह्म जिनका आत्मा है वे 'तदात्मा' हैं, जो सर्वकर्मका त्याग करके ब्रह्ममें ही स्थिति प्राप्त कर चुके हैं, वे 'तन्निष्ठ' कहे जाते हैं एवं परब्रह्म ही जिनका परम अयन—परम गति है, वे ही 'तत्परायण' हैं। जिनके अन्तःकरणका अज्ञान आत्मज्ञानसे नष्ट हो गया है ऐसे वे ज्ञाननिर्धूतकल्मष संन्यासी जहाँ जाकर पुनः जन्म नहीं मिलता ऐसे परमपदको प्राप्त करके फिर संसारमें जन्म नहीं लेते हैं ॥ १७ ॥

ज्ञानसे जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है वे पण्डित लोग कैसे देखते हैं ? सुनो—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

आत्मबोध एवं उपशमसे युक्त विनीत ब्राह्मणमें, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी पण्डित लोग समभावसे देखते हैं। भाव यह है कि सत्व, रज और तमोगुणयुक्त प्राणियोंमें भी आत्माको तीनों गुणोंसे निर्लिप्त स्वप्रकाशरूपसे देखते हैं, अतः वे समदर्शी हैं ॥ १८ ॥

ऐसी दृष्टि तो दोषयुक्त है ? इसपर कहते हैं कि ज्ञानीको दोष नहीं होता—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका अन्तःकरण सर्वभूतान्तर्गत ब्रह्मरूप समभावमें स्थित है, उन समदर्शी पण्डितोंने जीवनकालमें ही सर्ग—जन्मको जीत लिया है, क्योंकि वह ब्रह्म निर्दोष (और सम) है और उस ब्रह्ममें वे स्थित हैं ॥ १९ ॥

निर्दोष और सम ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो प्रिय वस्तुको प्राप्त करके हर्ष नहीं मानता एवं अप्रियके प्राप्त होनेपर जिसे उद्वेग नहीं होता, 'आत्मा सम, है सब भूतोंमें है एवं निर्दोष है' ऐसी संशयरहित जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है, वह अज्ञानसे रहित ब्रह्मज्ञानी ब्रह्ममें ही स्थित रहता है ।. २० ॥

और भी वह ब्रह्ममें स्थित कैसा होता है ?—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य स्पर्श-शब्दादि विषयोंमें जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं है ऐसा विषयासक्तिसे रहित पुरुष आत्मामें स्थित सुखको प्राप्त करता है । एवं वह ब्रह्मयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला पुरुष अक्षय सुख प्राप्त करता है । इसलिये अपने आपमें अक्षय सुख चाहनेवाले

पुरुषको क्षणिक बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंको निवृत्त कर लेना चाहिये ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंको इसलिये भी विषयोंसे हटा लेना चाहिये—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भोग अविद्याजन्य होनेके कारण दुःखरूप ही हैं; केवल दुःख ही नहीं हैं, किन्तु आदि-अन्तवाले भी हैं। यहाँ विषयोंके संयोगको इनका आदि एवं वियोगको अन्त कहा गया है। अतः हे कौन्तेय ! तत्त्वज्ञानी उन भोगोंमें रमण नहीं करते हैं ॥ २२ ॥

ये काम-क्रोध दुःखदायक हैं, सब अनर्थोंके कारण हैं। इनको नष्ट करनेके लिये दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

शरीर छूटनेके पहले जीवनकालमें ही जो मनुष्य इन काम-क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहन करनेमें समर्थ है, वही युक्त और सुखी है। अनुभव किये हुए इष्ट विषयके इन्द्रियगोचर होनेपर या स्मरण होनेपर उसको पानेकी इच्छाको 'काम' कहते हैं और प्रतिकूल विषयके देखने या स्मरण होनेपर उसमें जो द्वेष होता है उसको 'क्रोध' कहते हैं। इनको सहन करनेमें सदा सावधान रहना चाहिये ॥ २३ ॥

ब्रह्ममें स्थित कैसा पुरुष ब्रह्मको प्राप्त करता है ?—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो अन्तःसुखवाला है, जो अन्तरात्मामें ही रमण-क्रीडा करता है, और अन्तरात्मा ही जिसकी ज्योति है, ऐसा योगी जीवितावस्थामें ही ब्रह्मभूत होकर अन्तमें ब्रह्ममें निर्वाण हो जाता है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

और जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं एवं सब संशय दूर हो गये हैं तथा जो इन्द्रियसंयमी और सब भूतोंके हितमें रत हैं, ऐसे सम्यक् ज्ञानी ऋषि ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

और काम-क्रोधसे रहित अन्तःकरणको वशमें करके जिन्होंने आत्माको जान लिया है, वे यति—संन्यासी जीवन एवं मरण दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्मनिर्वाण ही रहते हैं ॥ २६ ॥

सम्यक् ज्ञानके अन्तरङ्ग साधन ध्यानयोगको विस्तारसे कहनेके लिये पहले सूत्ररूपसे कहते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

इन्द्रियोंके द्वारा जो शब्दादि विषय अन्तःकरणमें प्रविष्ट हैं उनका चिन्तन न करना—यही बाह्य विषयोंको बाहर करना है। उन बाह्य विषयोंको बाहर करके दोनों नेत्रोंके मध्यमें दृष्टिको स्थिर करके तथा नासिकाके भीतर विचरनेवाले प्राण और अपानको समान करके ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपने वशमें करके जो ईश्वरके स्वरूपका मनन करनेवाला मोक्षपरायण मुनि—संन्यासी इच्छा, भय और क्रोधसे रहित है, वह सदा इस शरीरमें रहते हुए भी मुक्त ही है ॥ २८ ॥

ऐसे समाहितचित्त पुरुषके लिये जाननेके योग्य क्या है? सुनो—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

वह मुझ नारायणको कर्तारूपसे तथा देवतारूपसे सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका ईश्वर, सकल प्राणियोंका सुहृत्—प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करनेवाला, सब भूतोंके हृदयमें स्थित, सब कर्मोंके फलका स्वामी और सबका साक्षी जानकर शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

पाँचवें अध्यायमें 'स्पर्शान्कृत्वा बहिः' इस श्लोकसे ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन ध्यानयोग सूत्ररूपमें बताया गया, अब उसीको वृत्ति याने विस्तारसे इस छठे अध्यायमें कहा जायगा। किन्तु ध्यानयोगका बहिरङ्ग साधन कर्म है, इसलिये गृहस्थ जबतक ध्यानयोगमें आरूढ़ होनेका सामर्थ्य न प्राप्त कर ले, तबतक अधिकारीको कर्म भी करना चाहिये; अतः उस कर्मकी स्तुति करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

भगवान् बोले—कर्मफलको न चाहनेवाला जो पुरुष कर्तव्य कर्म याने नित्य अग्निहोत्रादि कर्म करता है वह काम्य कर्मोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्मफलको त्यागनेसे वह संन्यासी और चित्त-समाधान करनेवाला होनेसे वह योगी भी है। केवल अग्नि-रहित और क्रियारहित पुरुषको संन्यासी और योगी नहीं मानना चाहिये ॥ १ ॥

श्रुति-स्मृतिमें निरग्नि और अक्रियका संन्यासित्व और योगित्व प्रसिद्ध है, फिर साग्नि और सक्रियको संन्यासी एवं योगी कैसे कहा गया ? यहाँ मुख्य संन्यासी और मुख्य योगी कहना भगवान्‌को इष्ट नहीं है इसी अभिप्रायसे आगे कहते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

सर्वकर्म और उनके फलके त्यागको श्रुति-स्मृतिके जाननेवाले यथार्थ संन्यास कहते हैं। हे पाण्डव ! कर्मानुष्ठान याने निष्काम कर्मयोगको भी तुम यथार्थ संन्यास ही जानो। जिसने फलविषयक इच्छाओंका त्याग नहीं किया है, वह कर्मी योगी नहीं हो सकता है।

यहाँ परमार्थ संन्याससे कर्मयोगीकी कर्तृविषयक समानता बतलाते हुए कर्मयोगकी स्तुति करते हैं। अर्थात् कर्म और कर्मफलमें प्रवृत्तिका कारण कामना है, उस कामनाका त्याग दोनोंमें हैं, अतः यथार्थ संन्याससे कर्मयोगीकी समानताद्वारा कर्मयोगकी स्तुति हो जाती है ॥ २ ॥

फलकी इच्छासे रहित कर्मयोग ध्यानयोगका बहिरङ्ग साधन है—इस दृष्टिसे उसकी संन्यासरूपसे स्तुति करके 'कर्मयोग ध्यानयोगका साधन है' यह दिखलाते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

ध्यानयोगमें स्थित रहनेमें जो असमर्थ है और ध्यानमें स्थित होना चाहता है उसके लिये साधन कर्म है और जब निष्काम कर्मके द्वारा योगारूढ़ हो जाता है तब उसमें स्थित रहनेका साधन शम है याने सब कर्मोंसे रहित होना है। जैसे-जैसे मनुष्य कर्मोंसे उपराम होता है, वैसे-वैसे उस जितेन्द्रिय पुरुषका चित्त समाहित होता जाता है। इस प्रकार वह शीघ्र ही योगारूढ़ हो जाता है ॥ ३ ॥

कहा भी है—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ।

शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥
(महा० शान्ति० १७५ । ३८)

योगारूढ़ कब हो जाता है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

मनको एकाग्र करनेवाला योगी जब इन्द्रियोंके विषय शब्दादिमें एवं नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, एवं इहलोक तथा परलोकके भोगोंकी कामनाके मूल संकल्पोंका त्याग कर देता है अर्थात् समस्त कामना और कर्मोंको छाड़ देता है, तब योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

योगारूढ़ योगी सब अनर्थोंके समूह संसार-समुद्रसे स्वयं अपना उद्धार कर लेता है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

संसार-समुद्रमें डूबे हुए अपनेको आप ही उद्धार करना चाहिये, अपने आत्माको नीचे नहीं गिराना चाहिये, क्योंकि आप ही अपना बन्धु है, अन्य कोई ऐसा बन्धु नहीं है जो संसारसे छुड़ानेवाला हो । तथा आप ही अपना शत्रु है, जो बाहरी शत्रु है वह भी अपना ही बनाया हुआ है ॥ ५ ॥

अपना आप ही बन्धु और अपना आप ही शत्रु है—इसका क्या लक्षण है ? सुनो—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने कार्य-करणके समुदाय शरीररूप आत्माको अपने वशमें किया है अर्थात् जो जितेन्द्रिय है, वही अपने आपका मित्र है और जिसने शरीररूप आत्माको नहीं जीता, वह अपने आप ही शत्रुके समान बर्तने लगता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

कार्य-करणसंघातरूप शरीरको जिसने जीत लिया है एवं जो प्रशान्त है अर्थात् जिसका मन प्रसन्न है और जो सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख और मानापमानमें समान रहता है, उस संन्यासीको आत्म-भावसे परमात्मा प्राप्त ही है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

शास्त्रोक्त पदार्थोंका ज्ञान ज्ञान है एवं शास्त्रसे जानी हुई वस्तुका अपने अन्तःकरणमें प्रत्यक्ष अनुभव विज्ञान है। इस ज्ञान-विज्ञानसे जिसके मनमें यह विश्वास हो गया है कि अब कुछ जानना नहीं रह गया है, ऐसा तृप्तात्मा एवं स्थिर जितेन्द्रिय और मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान रूपसे देखनेवाला योगी युक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

तथा प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके उपकार करनेवाले सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और अपने सम्बन्धियोंमें और शास्त्रके अनुसार चलनेवाले साधु—श्रेष्ठ पुरुष और शास्त्रके विरुद्ध चलनेवाले पापियोंमें भी जो समान बुद्धिवाला है, वह समस्त योगारूढ़ पुरुषोंमें श्रेष्ठ है। यहाँ 'विशिष्यते'के स्थानमें 'विमुच्यते' पाठ भी है। उसका 'मुक्त होता है'—ऐसा अर्थ जान लेना चाहिये ॥ ९ ॥

अतः उत्तम फल-प्राप्तिके लिये—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

ध्यान करनेवाला योगी अकेला एकान्त स्थानमें स्थित होकर अपने मन और शरीरको वशमें करके तथा तृष्णा और संग्रहसे रहित होकर निरन्तर अपने मनको ध्यानमें लगावे ॥ १० ॥

योगके लिये साधनरूप आसन, आहार, विहार आदिको और योगसिद्ध पुरुषके लक्षणोंको बतानेके लिये यह प्रकरण आरम्भ करते हैं। इसमें पहले आसनका वर्णन करते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

स्वभावसे शुद्ध तीर्थादि एवं संस्कारसे शुद्ध पवित्र देशमें न अत्यन्त ऊँचे न अत्यन्त नीचे स्थानमें अपने कुशासन, उसपर मृग-चर्म, उसके ऊपर वस्त्रको स्थिर बिछावे ॥ ११ ॥

आसन बिछाकर—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

उस आसनपर बैठकर मन और इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योग-साधन करे ॥ १२ ॥

बाह्य आसन कहा, अब शरीर-धारणकी विधि कहते हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

काया, सिर और गरदनको सम और अचल भावसे धारण करके स्थिर होकर बैठे एवं इधर-उधरसे दृष्टिको रोककर तथा दिशाओंको न देखता हुआ और अपनी नासिकाके अग्रभागको देखता हुआ एकदेशमें दृष्टि स्थिर करे। यहाँ नासिकाके अग्रभागके अवलोकनका अर्थ भी दृष्टिको रोकना ही है, नासिकाको देखना नहीं है ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अच्छी तरहसे जिसका अन्तःकरण शान्त है एवं जो निर्भय और ब्रह्मचारीके गुरु-सेवादि व्रतमें स्थित है, वह मनकी वृत्तिको रोककर, मुझ परमेश्वरमें ही चित्तको लगाकर और समाहितचित्त होकर मुझको ही सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ बैठे ॥ १४ ॥

योगका फल कहते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकारसे मनको जीत करके उसको मुझ परमात्मामें स्थिर करते-करते मुझमें रहनेवाली परम—अन्तिम निर्वाण—मोक्षरूप शान्तिको प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

अब योगीके आहारका नियम कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन ! न अपनी शक्तिसे अधिक खानेवाला या न बिल्कुल नहीं खानेवाला तथा न बहुत सोनेवाला अथवा न बहुत जागनेवाला ही योगसिद्धि प्राप्त करता है । 'अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु । वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्' ॥ १६ ॥

योग कैसे सिद्ध होता है ?—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जिसका भोजन और विहार नियत परिमाणसे होते हैं, अन्य कर्मोंमें भी जिसकी युक्त चेष्टा है तथा जागना-सोना आदि भी नियमित होता है, उस योगीका योग दुःखोंका नाश करनेवाला होता है ॥ १७ ॥

योगी कब युक्त होता है?

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

विशेषरूपसे एकाग्रताको प्राप्त चित्त बाह्य चिन्तन छोड़कर जब आत्मामें ही स्थित हो जाता है तथा दृष्ट एवं अदृष्ट समस्त कामनाओंसे निःस्पृह—तृष्णारहित होता है, तब योगी युक्त—समाधिस्थ कहा जाता है ॥ १८ ॥

समाहित चित्तवाले योगीकी उपमा—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

वायुरहित प्रदेशमें रखा हुआ दीप जैसे निश्चल होता है, उसी प्रकार समाधिस्थ योगीका चित्त अचल हो जाता है—ऐसा योग जाननेवाले योगी कहते हैं ॥ १९ ॥

दीपकके समान एकाग्र हुआ चित्त—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

जब योग-सेवनसे चञ्चलतारहित चित्त उपरति प्राप्त करता है एवं जिस समय समाधिद्वारा अत्यन्त निर्मल अन्तःकरणमें परम चैतन्य ज्योतिःस्वरूप आत्माको देखता है, तब अपने आपमें संतुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

और जब अन्तसे रहित—अनन्त एवं इन्द्रियनिरपेक्ष बुद्धिग्राह्य आत्मस्वरूप सुखका अनुभव करता है याने आत्मस्वरूपमें स्थित होता है, तब पुनः उस वास्तविक तत्त्वसे विचलित नहीं होता है ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

जिस आत्मतत्त्व-लाभसे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता है, एवं जिस आत्मतत्त्वमें स्थित होनेपर भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता है ॥ २२ ॥

'यत्रोपरमते' इस (२०वें श्लोक) से आरम्भ करके यहाँ (२२वें श्लोक) तक जिस योगका वर्णन किया गया है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

उस योग नामक अवस्थाको दुःखोंके संयोगका वियोग समझना चाहिये, एवं इसको निर्वेदरहित (शान्त) चित्तसे निश्चय—अवश्य करना चाहिये ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

तथा संकल्पसे उत्पन्न अशेष—समस्त कामनाओंको अशेष-रूपसे—निर्लेपभावसे त्यागकर विवेकयुक्त मनसे समस्त इन्द्रियोंको अच्छी तरहसे रोक करके—॥ २४ ॥

क्या करे—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको धीरे-धीरे उपरत करके आत्मामें स्थित करे। आत्मामें स्थित करके 'आत्मासे भिन्न कुछ वस्तु नहीं' ऐसा समझकर अन्य किसी वस्तुका चिन्तन न करे। योगकी यही परम—श्रेष्ठ विधि है ॥ २५ ॥

आत्मामें मन लगानेवाले योगीको—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

स्वाभाविक चञ्चलताके कारण अस्थिर मन बाह्य जिन-जिन शब्दादि विषयोंका चिन्तन करे, उन-उन विषयोंमें दोषदृष्टिपूर्वक वैराग्यकी भावनासे मनको रोककर आत्मामें ही लगावे। इस प्रकार योगाभ्याससे मन आत्मामें शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मोहादि क्लेशका कारण रजोगुण शान्त हो गया है एवं रजोगुण क्षीण होनेसे प्रशान्त मनवाला, ब्रह्मस्वरूपभूत,

अधर्मादिदोष-रहित योगी निरतिशय—सर्वश्रेष्ठ उत्तम सुखको प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

उक्त प्रकारसे सदा चित्तको समाहित करता हुआ, समस्त विघ्नोंसे रहित, निष्पाप योगी सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्शरूप अत्यन्त श्रेष्ठ सुखको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

संसारका उच्छेद—नाश करनेवाले ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनरूप योगका फल दिखाते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

समाहित अन्तःकरणसे युक्त योगी सब भूतोंमें आत्माको एवं सब भूतोंको आत्मामें देखता है। इस प्रकार अर्थात् समानरूपसे सबमें एकात्मभावका दर्शन करता है ॥ २९ ॥

इस एकात्मत्व दर्शनका फल—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो मुझ वासुदेवको सब भूतोंमें आत्मरूपसे व्यापक देखता है तथा सब भूतोंको मुझ सर्वात्मा ईश्वरमें देखता है, उसको मैं परोक्ष—अदृश्य नहीं हूँ और वह भी मुझसे परोक्ष नहीं है, क्योंकि उसका और मेरा एक ही स्वरूप है ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

आधे श्लोकमें एकात्मत्वदर्शनका अनुवाद करके आधेमें फल कहते हैं—सब भूतोंमें स्थित मुझ वासुदेवका जो एक आत्मस्वरूप जानकर भजन करता है, वह ज्ञानी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझ परमेश्वरमें ही बर्तता है अर्थात् सदा मुक्त ही है ॥ ३१ ॥

और भी कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपने समान ही सब भूतोंमें सुख अथवा दुःखको देखता है, अर्थात् जैसे सुख मुझको प्रिय है वैसे ही दूसरेको भी सुख प्रिय है और मुझको दुःख अप्रिय है वैसे ही दूसरेको भी दुःख अप्रिय है—ऐसा जाननेवाला दूसरेके प्रतिकूल आचरण नहीं करता है। ऐसा अहिंसक सम्यग्दर्शननिष्ठ योगी परम उत्कृष्ट माना जाता है ॥ ३२ ॥

ऊपर कहे गये ज्ञानयोगको कठिन मानकर उसकी प्राप्तिके स्थिर उपायको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछता है—

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन! आपके द्वारा कहा गया जो यह समत्व योग है, इसमें मनकी चञ्चलताके कारण अचलस्थिति नहीं देखता हूँ ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

हे भक्तोंके पापादि दोषोंका आकर्षण अर्थात् नाश करनेवाले भगवान् कृष्ण! यह मन अत्यन्त चञ्चल एवं प्रमथनशील—शरीर एवं इन्द्रियोंको परवश करनेवाला, बड़ा बलवान् और दृढ़ है। इसका रोकना वायुसे भी अधिक दुष्कर प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! जैसा कहते हो, यह वैसा ही है। मन चञ्चल और दुर्निग्रह है अर्थात् इसका रोकना कठिन है—इसमें कोई संशय नहीं है, किन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास—बार-बार आत्म-चिन्तनसे और विषयोंमें दोषदृष्टि-रूप वैराग्यसे इसका निग्रह (निरोध) किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

जिसका मन वशमें नहीं है उससे—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अभ्यास एवं वैराग्यसे जिसका मन नहीं रुका है उसको यह

योग प्राप्त होना कठिन है—यह मेरा मत है, और जिसने अभ्यास एवं वैराग्यसे मनका निरोध किया है उसको फिर भी बार-बार यत्न करनेसे योग प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥

योगाभ्यास आरम्भ करके समस्त कर्मोंको तो छोड़ दिया और मोक्षका साधन ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे योगीका यदि अन्तकालमें योगमार्गसे चित्त विचलित हो गया तो उसके विनाश-की शंकासे अर्जुन प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! जो योगमार्गमें दृढ़ यत्न तो नहीं करता किन्तु श्रद्धासे युक्त है, ऐसे साधकका मन यदि मरणकालमें योगभ्रष्ट हो गया तो योगसिद्धिकी प्राप्ति न होनेसे उसकी क्या गति होगी ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो ! ब्रह्म-प्राप्तिके मार्गमें विमूढ़ और आश्रयरहित, योगमार्ग एवं कर्ममार्गसे भ्रष्ट साधक क्या छिन्न-भिन्न मेघके समान नष्ट हो जाता है या नहीं ? ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! मेरे इस संशयको पूर्णरूपसे छेदन करनेमें आप ही समर्थ हैं, आपसे अन्य दूसरा कोई भी इस संशयका नाश नहीं कर सकता है ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

भगवान् बोले—हे पार्थ ! योगभ्रष्टका इहलोक तथा परलोकमें विनाश नहीं होता है। इस जन्मकी अपेक्षा हीन योनिमें जन्मका नाम नाश है। योगभ्रष्टका हीन जन्म नहीं होता है। हे तात ! शुभकर्म करनेवाले किसीका भी नीच योनिमें जन्म नहीं होता है ॥ ४० ॥

तो क्या होता है ?—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट संन्यासी पुण्यकर्म करनेवालोंके देवादि लोकोंमें अनन्तकालतक रहकर भोग-क्षय होनेपर शुद्ध और वैभवशाली पुरुषोंके घरमें उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा श्रीमानोंके कुलसे अन्य बुद्धिमान् अकिञ्चन योगियोंके

कुलमें जन्म लेता है। ऐसा उपरोक्त दरिद्र योगियोंके कुलमें जन्म लेना अत्यन्त दुर्लभ है॥ ४२॥

क्योंकि—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

योगियोंके कुलमें जन्म लेनेसे पूर्वजन्ममें प्राप्त बुद्धिसे संयोग हो जाता है अर्थात् पूर्वजन्मका संस्कार नवीन देहमें प्राप्त हो जाता है। हे कुरुनन्दन! संस्कारके बलसे पुनः सिद्धिके लिये दृढ़ प्रयत्न करके सिद्धि प्राप्त कर लेता है॥ ४३॥

पूर्वदेहकी बुद्धिसे संयोग कैसे होता है?—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अवश हुए योगभ्रष्टको पूर्वजन्मका किया हुआ दृढ़ अभ्यास पुनः योगमें लगा देता है। यदि केवल योगका जिज्ञासु मात्र भी हो तो भी वेदोक्त कर्मफलका उल्लङ्घन कर जाता है, फिर योगमार्गको जानकर उसमें स्थित योगीका तो कहना ही क्या है॥ ४४॥

योगित्व श्रेष्ठ क्यों है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नपूर्वक योगमें लगा हुआ योगी अनेक जन्मोंके संचित संस्कारोंसे पापरहित होकर सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके परागति (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है॥ ४५॥

इसीलिये—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्वियोंसे एवं शास्त्रविषयक ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, और अग्निहोत्रादि कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, अतः हे अर्जुन ! तुम योगी बनो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

आदित्यादि देवताओंके ध्यानमें लगे हुए योगियोंकी अपेक्षा श्रद्धायुक्त होकर मुझ वासुदेवमें शुद्ध अन्तःकरणको स्थित करके भजनेवाला पुरुष अतिशय—सर्वोत्तम श्रेष्ठ योगी है—यह मेरा मत है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

'योगिनामपि सर्वेषाम्'—इस श्लोकसे छठे अध्यायके अन्तमें कहा कि—'मुझमें स्थित अन्तरात्मावाला युक्ततम है ।' इसपर होनेवाले प्रश्नके आधारपर अपना तत्त्व वर्णन करनेके लिये भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

हे पार्थ ! मुझ ईश्वरमें ही जिसका मन आसक्त है एवं मैं ही एकमात्र जिसका आश्रय—आलम्बन हूँ, ऐसे होकर संशयरहित समग्र-विभूति, बल, शक्ति आदि ऐश्वर्यसम्पन्न मुझको जैसा जानोगे सो सुनो ॥ १ ॥

अपने स्वरूपका वर्णन—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुमको ज्ञान और विज्ञान याने अपना अनुभवयुक्त ज्ञान पूर्णरूपसे कहूँगा। जिस ज्ञान और विज्ञानको जानकर फिर इस संसारमें किसी अन्य वस्तुका जानना शेष नहीं रहेगा। अर्थात् तत्त्वज्ञको कुछ जानना अवशेष नहीं रह जाता,वह सर्वज्ञ हो जाता है। अतः यह ज्ञान-विज्ञान दुर्लभ है ॥ २ ॥

कैसे ? सो कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई सिद्धि (मोक्ष)के लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही मुझको ठीक-ठीक तत्त्वसे जानता है ॥ ३ ॥

श्रोताकी अभिरुचि बढ़ाकर उसके संमुख होनेपर कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

इस श्लोकमें 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इस उक्तिके कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे इनकी तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका ग्रहण है, स्थूल पृथिवी आदिका ग्रहण नहीं है। इसी प्रकार मनसे मनका कारण अहंकार तथा बुद्धिसे अहंकारका कारण महत्तत्व और अहंकारसे अविद्यायुक्त अव्यक्त (मूलप्रकृति) ग्रहण किया गया है। भाष्यकार श्रीशंकराचार्य लिखते हैं—'यथा विषसंयुक्तं अन्नं विषं उच्यते एवं अहंकार-वासनावत् अव्यक्तं मूलकारणं अहंकार इति उच्यते'—'जैसे विषयुक्त अन्न भी विष ही कहा जाता है, वैसे ही अहंकार और वासनासे युक्त अव्यक्त (मूलप्रकृति) को भी अहंकारके नामसे कहा गया है। इस प्रकार ऊपर कही गयी प्रकृति—मुझ ईश्वरकी मायाशक्ति आठ प्रकारसे विभक्त है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

ऊपर कही गयी यह आठ प्रकारकी प्रकृति अपरा है अर्थात् निकृष्ट, अशुद्ध एवं अनर्थ करनेवाली और संसाररूप बन्धनमें बाँधनेवाली है। हे महाबाहो! इससे भिन्न दूसरी शुद्धा, आत्मभूता, जीवरूपा, क्षेत्रज्ञलक्षणा, सबके अन्तरमें प्राणरूपसे प्रविष्ट, जगत्को धारण करनेवाली परा प्रकृति है ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

इस परा एवं अपरा—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दो प्रकारकी प्रकृतिसे ही समस्त भूत-प्राणी उत्पन्न हुए हैं अर्थात् यह दो प्रकारकी प्रकृति ही जगत्की योनि है। तात्पर्य यह कि ये दो मेरी प्रकृति हैं, इन्हींके द्वारा मैं जगत्की उत्पत्ति और प्रलय किया करता हूँ। अतः सर्वज्ञ ईश्वर मैं ही समस्त जगत्का कारण हूँ ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मुझ परमेश्वरसे भिन्न दूसरा कोई जगत्का कारण नहीं है याने मैं ही जगत्का कारण हूँ। इसलिये हे धनंजय ! ये सारे प्राणी और सम्पूर्ण जगत् मुझमें तन्तुमें पट एवं सूत्रमें मणियोंके समान ओत-प्रोत है ॥ ७ ॥

किस-किस धर्मसे युक्त आपमें प्रोत है ? सो सुनो—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! जलमें जलका सार—रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें मैं प्रभा—प्रकाश हूँ, समस्त वेदोंमें ओंकार हूँ—ओंकाररूप मुझमें सब वेद प्रोत हैं। आकाशमें साररूप शब्द हूँ तथा मनुष्योंमें पुरुषत्व—जिससे पुरुष समझा जाता है वह मैं हूँ ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथ्वीमें मैं सुगन्ध हूँ, सुगन्धरूप मुझमें पृथिवी प्रोत है। यहाँ 'पृथिवोमें पुण्य गन्ध' कहकर यह दिखाया गया है कि जलादिमें रसादि सब स्वभावसे पवित्र ही हैं, अपवित्रता तो संसर्गसे होती है। अग्निमें तेज, प्राणियोंमें जीवन, तपस्वियोंमें मैं तप हूँ—तपरूप मुझमें तपस्वी प्रोत हैं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ ! मुझको सब भूतोंका सनातन बीज—उत्पत्तिका मूल कारण जानो। बुद्धिमानोंकी बुद्धि—विवेकशक्ति तथा तेजस्वियोंका प्रभाव भी मुझको ही समझो ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरतश्रेष्ठ ! बलवानोंका काम—तृष्णा एवं राग—विषयोंमें प्रीतिसे रहित देहादि धारण करनेवाला बल मैं ही हूँ। और प्राणियोंमें धर्म-शास्त्रार्थके अविरुद्ध काम—देह-धारणमात्रके लिये खाने-पीने आदिकी इच्छा भी मैं ही हूँ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

तथा प्राणियोंके कर्मानुसार ये जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव उत्पन्न होते हैं उन सबको मुझसे ही उत्पन्न समझो। ये भाव यद्यपि मुझसे उत्पन्न होते हैं, तथापि संसारी जीवोंके समान मैं उनके वशमें नहीं हूँ, किन्तु वे सब मेरे वशमें हैं ॥ १२ ॥

इस प्रकारके नित्य शुद्ध, बुद्ध स्वभाववाले, सब भूतोंके आत्मा, गुणातीत, संसार-बन्धनको काटनेवाले मुझ परमेश्वरको संसारी जीव नहीं जान पाता है! इस प्रकार भगवान् अपनेमें खेद प्रकट करते हैं और जगत्के इस अज्ञानका क्या कारण है? सो कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

तीनों गुणोंके विकार राग-द्वेष और मोह आदि अनेक भावोंसे मोहित होनेसे जीव विवेकशून्य होकर गुणातीत, सर्व संसारी लक्षणोंसे परे अविनाशी मुझको नहीं जानता है ॥ १३ ॥

त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको कैसे तरते हैं? सुनो—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी—विष्णु व्यापक देव परमेश्वरकी यह त्रिगुणमयी माया दुस्तर है। जो मुझ मायापति परमेश्वरके ही सर्वात्मभावसे शरणागत हो जाते हैं, वे मायाके पार हो जाते हैं ॥ १४ ॥

यदि आपके शरणमें जानेसे मायाको तर जाते हैं तो सभी आपके शरण क्यों नहीं जाते?—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

पाप कर्म करनेवाले, मूढ, नरोंमें अधम, जिनका ज्ञान माया-द्वारा अपहृत—हरण कर लिया गया है, वे आसुरी भाव—हिंसा,

झूठ आदिके आश्रित होकर मुझ परमात्माको नहीं प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

और जो पुण्यकर्म करनेवाले हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे भरतर्षभ अर्जुन ! चोर, व्याघ्र, रोग आदिके भयसे भयभीत आर्त एवं भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको जाननेकी इच्छा करनेवाला जिज्ञासु तथा धनकी कामना करनेवाला अर्थार्थी और भगवत्तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी—ये चार प्रकारके पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य मेरा भजन करते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

इन चारोंमें तत्त्व जाननेवाले तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें अन्य भजनीय वस्तुका अभाव होनेसे उसकी एक मुझ परमात्मामें ही अनन्य भावसे सदा स्थिति बनी रहती है। इसलिये अन्य तीनोंकी अपेक्षा यह ज्ञानी श्रेष्ठ माना जाता है। मैं ज्ञानीका आत्मा हूँ अतः उसको अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी भी मेरा आत्मा है अतः वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

तब क्या आर्तादि तीनों आपके प्रिय नहीं हैं ? ऐसा नहीं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सभी उदार—उत्कृष्ट हैं, अतः ये तीनों भी मेरे प्रिय ही हैं,

किन्तु ज्ञानी तो अत्यन्त प्रिय है; क्योंकि ज्ञानी मुझसे अन्य नहीं है, वह तो मेरा आत्मस्वरूप ही है। योगारूढ होनेके लिये प्रवृत्त ज्ञानी 'स्वयं मैं ही वासुदेव हूँ'—यों समाहितचित्त होकर मुझ परम प्राप्तव्य ब्रह्मको ही प्राप्त करनेमें प्रवृत्त है ॥ १८ ॥

पुनः ज्ञानीकी स्तुति की जाती है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

ज्ञान-प्राप्तिके लिये संस्कारोंका अर्जन करनेके आश्रयभूत बहुत जन्मोंके अन्तमें 'सर्व वासुदेव ही है' ऐसा अनुभव करके ज्ञानी मुझको प्राप्त कर लेता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है। 'मनुष्याणां सहस्रेषु' यह कहा भी गया है ॥ १९ ॥

'समस्त जगत् आत्मस्वरूप वासुदेव ही है'—यह न समझने-का कारण कहते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

स्वभावसे—जन्म-जन्मान्तरके अर्जित संस्कारविशेषसे प्रेरित होकर पुत्र,पशु और स्वर्गादि भोग-प्राप्तिविषयक नाना कामनाओंके कारण जिनका विवेक नष्ट हो गया है, वे आत्मस्वरूप मुझ वासु-देवसे भिन्न देवताओंकी उनके भिन्न-भिन्न नियमोंसे उपासनामें लगे रहते हैं और अन्तमें उन्हींको प्राप्त कर लेते हैं ॥ २० ॥

उन कामियोंको—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जिस-जिस कामनासे जिस-जिस देवताके स्वरूपका भक्त श्रद्धा भक्तिसे युक्त होकर अर्चन करता है, उस-उस देवतामें भक्तकी श्रद्धाको मैं अचल—स्थिर कर देता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

वह मेरे द्वारा स्थिर की हुई श्रद्धासे युक्त होकर उन-उन देवताओंके स्वरूपकी आराधना करता है, और मुझ ईश्वरके द्वारा ही नियत किये हुए इष्ट कर्मफलोंको उन-उन देवताओंके द्वारा प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

कामी अविवेकी पुरुषोंके साधन अन्तवान् (विनाशयुक्त) हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अल्पबुद्धिवालोंका वह भोगरूप फल नाशवान् होता है। देवताओंका यजन—पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त करते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं। भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य लिखते हैं—"समाने अपि आयासे माम् एव न प्रपद्यन्ते अनन्तफलाय अहो खलु कष्टं वर्तन्ते इति अनुक्रोशं दर्शयति भगवान्"—'अहो ! समान आयास होनेपर भी अनन्त फलके लिये प्राणी मुझ परमेश्वरके शरणमें नहीं जाते यह महान् दुःख है। यों भगवान् करुणा प्रकट करते हैं' ॥ २३ ॥

मुझ परमेश्वरके शरणमें ही क्यों नहीं आते ?—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अज्ञानी—विवेकशून्य व्यक्ति पर-अव्यक्त अविनाशी निरतिशय परमात्मस्वरूपको न जानकर 'ये पहले नहीं थे, अब प्रकट हुए हैं' ऐसा मुझको मानते हैं ॥ २४ ॥

यह अज्ञान क्यों है ? इसपर कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

गुणोंके मेलका नाम योग है, वही माया है । उस योगमायासे आच्छादित होनेके कारण मैं सब लोगोंके सम्मुख प्रकट नहीं हूँ, किन्हीं भक्तोंके सम्मुख ही प्रकट हूँ । इसलिये मूढ प्राणी प्रकटरूपसे मुझ अज, अविनाशीको नहीं जानते हैं । भक्त तो मुझे जानता ही है ॥ २५ ॥

योगमायासे आच्छादित मुझको संसारी जीव नहीं जानते; किन्तु वह योगमाया मेरी होनेके कारण मुझको नहीं आवृत करती है, जैसे नटकी माया नटको आवृत नहीं करती है—

इसीलिये—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन ! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान सब भूतोंको जानता हूँ किन्तु मेरे शरणापन्न भक्तको छोड़कर अन्य कोई भी मुझको नहीं जानता है ॥ २६ ॥

आपके तत्त्व (स्वरूप)के जाननेमें क्या रुकावट है जिससे प्राणी नहीं जानता ? सुनो—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे भारत ! इच्छा एवं द्वेष—इन दोनोंसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्व-मोहसे सभी जीव मोहित होते हैं। परस्पर विरुद्ध स्वभावका नाम द्वन्द्व है—जैसे शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि। इस द्वन्द्वसे मोह उत्पन्न होता है। मोहका अर्थ है चित्त-वैकल्य—मनमें बेचैनी। हे परंतप ! इन इच्छा और द्वेषसे समय-समयपर जब प्राणियोंका सम्बन्ध होता है, तब द्वन्द्व—सुख-दुःख आदिसे प्राणियोंको विकलता हो जाती है, इस विकलता—मोहके कारण जीवका कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नष्ट हो जाता है, यही आत्मस्वरूपके ज्ञानमें प्रतिबन्ध है। इसी प्रतिबन्धसे वह आत्मस्वरूपको नहीं जानता। जीवको उत्पत्तिकालमें ही ये इच्छादि उत्पन्न होते हैं, इसीसे जीव मोहित है। अतः आत्मभावसे मुझको नहीं भजता है ॥ २७ ॥

इस मोहसे छूटे हुए कौन हैं, जो आपका आत्मभावसे भजन करते हैं ? इसे कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

जिन पुण्यकर्म करनेवाले पुण्यकर्मा पुरुषोंका पाप अन्तगत—नष्टप्राय हो गया है, वे पुण्यकर्मा द्वन्द्व-मोहसे छूट करके दृढ़व्रती होकर मुझ परमात्माका भजन करते हैं। परमात्माका स्वरूप ठीक इसी प्रकारका है—इस निश्चयका नाम दृढ़व्रत है। अर्थात् वे निश्चयरूपसे मेरा भजन करते हैं ॥ २८ ॥

किसलिये भजते हैं ?—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो जरा और मृत्युसे छूटनेके लिये मुझ परमेश्वरमें समाहित-चित्त होकर प्रयत्न करते हैं, वे उस परब्रह्मको जानते हैं और समस्त अध्यात्म तथा समस्त कर्मोंको भी जानते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो मनुष्य अधिदैव और अधिभूतके सहित मुझ परमात्माको जानते हैं एवं अधियज्ञसहित भी जानते हैं, वे मरणकालमें भी समाहित चित्तसे मुझको जानते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

●

अथ अष्टमोऽध्यायः

पूर्वाध्यायमें 'ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम्' इस श्लोकमें प्रश्नके बीजका उपदेश किया था । अतः—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है और कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं एवं अधिदैव क्या कहा जाता है ? हे मधुसूदन ! यहाँ इस देहमें अधियज्ञ कौन है और कैसे है ? तथा स्वाधीन चित्तवाले पुरुषोंद्वारा आप अन्तकालमें किस प्रकार जाने जाते हैं ॥ १-२ ॥

प्रश्नोंका क्रमसे निर्णय करनेके लिये—

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—जिसका कभी नाश न हो उसका नाम अक्षर है। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इस वाक्यमें वर्णित प्रणवका यहाँ ग्रहण नहीं है। यहाँ 'परमम्' इस विशेषणसे प्रणवके वाच्य निरतिशय अक्षर परमात्मा को ही 'ब्रह्म' जानना चाहिये।

उसी ब्रह्मका जो प्रत्येक शरीरमें प्रत्यगात्मभाव है, उसका नाम स्वभाव है। वह स्वभाव ही 'अध्यात्म' कहलाता है। तात्पर्य यह कि 'आत्मानं देहम् अधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु स्वभावः' 'शरीरको आधार बनाकर जो प्रत्यगात्मरूपसे स्थित है, यथार्थमें तो वह ब्रह्म ही है, वही स्वभाव है, उसी स्वभावका नाम अध्यात्म है।

भूतोंकी सत्ता ही भूतभाव है। उस भूत नामक वस्तुकी उत्पत्ति करनेवाला जो विसर्ग है अर्थात् देवताके उद्देश्यसे चरु-

पुरोडाशादि द्रव्योंका त्याग है, उसकी नाम विसर्ग है। वह त्यागरूप यज्ञ ही 'कर्म' कहलाता है। यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न आदि क्रमसे जीवोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मका निर्णय करके अब अधिभूतका निर्णय करते हैं—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! क्षरभाव ही अधिभूत है। विनाश होनेवाली वस्तुका नाम क्षर है याने जो उत्पन्न होती है उसीका विनाश होता है। ऐसी वस्तु है पञ्चभूत आदि अर्थात् देह-इन्द्रियादि। इसीका नाम है 'अधिभूत'।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैवकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥
(भागवत स्क० २ अ० १० श्लो० ८)

अर्थात् जो अध्यात्म पुरुष है, वही अधिदैव है। इस अध्यात्म और अधिदैवका जिससे विभाग होता है, वही अधिभूत कहलाता है।

जिससे सब संसार परिपूर्ण है अथवा देहरूप पुरमें रहता है इससे इसका नाम पुरुष है। समस्त प्राणियोंके करण—इन्द्रियादिको अनुग्रह करनेवाला आदित्यमण्डलमें स्थित हिरण्यगर्भ ही 'अधिदैव' है।

यज्ञ शरीरसे ही सम्पन्न होता है, अतः इस देहमें जो यज्ञ है उसका अधिष्ठाता विष्णु नामसे 'अधियज्ञ' भी मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

मरणकालमें जो मुझ विष्णुको स्मरण करता हुआ कलेवर—शरीर त्यागता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है—इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ५ ॥

मेरे ही विषयमें यह नियम नहीं है, किन्तु

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे कौन्तेय ! मरणकालमें यह जीव जिस-जिस भाव—वस्तु या देवताविशेषका चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, उसी-उसी भावसे भावित होकर उसी स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥

अन्तकालकी भावना ही कारण है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

इसलिये सब कालमें मेरा स्मरण करो और स्वधर्मरूप युद्ध भी करो । मुझमें समर्पित मन-बुद्धिवाले होनेसे मुझको ही प्राप्त करोगे, इसमे संशय नहीं ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

और हे पार्थ ! अन्य विषयोंसे रोक करके—बार-बार मनोवृत्तिको मुझमें स्थिर करनेका नाम अभ्यास है । इस अभ्यासयोगयुक्त चित्तसे स्मरण करता हुआ योगी परम—निरतिशय दिव्य—सूर्य-मण्डलमें स्थित परम पुरुषको प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

उस पुरुषका स्वरूप क्या है ?—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

वह पुरुष त्रिकालदर्शी है एवं अनादि है तथा समस्त जगत्का शासक है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म है, सबके कर्मफलका विधायक है, अचिन्त्य-स्वरूप है, आदित्यवर्ण है, अज्ञानलक्षण मोहरूप अन्धकारसे परे है। उसका चिन्तन करनेवाला उसीको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

एवं मरणकालमें भी भक्तिसे और योगबलसे युक्त हुआ तथा अचल मनके द्वारा सम्यक् प्रकारसे भ्रुकुटीके मध्यमें प्राणको स्थापन करके परमात्माका स्मरण करता हुआ उसी परम दिव्य पुरुष-को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिसको अक्षर नामसे वर्णन करते

हैं, वीतराग यति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिस परमपदके चाहनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते हैं, उस परमपदको तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा ॥ ११ ॥

प्रश्नोपनिषद्में सत्यकाम और महर्षि पिप्पलादके प्रसंगमें एवं कठोपनिषद्में नचिकेता और धर्मराजके प्रसंगमें जिस ओंकारको ब्रह्मका वाचक और प्रतीकरूपमें कहा गया है, जिसका फल कालान्तरमें क्रममुक्ति कही गयी है, उसीको यहाँ भी 'कविं पुराणमनुशासितारम्' 'यदक्षरम्' इत्यादिसे प्रतिपादन करके उसी परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय योगाभ्यासकी विधि बतलाते हैं—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

सब इन्द्रियोंको संयम करके एवं मनको हृदयकमलमें निरोध करके याने संकल्प-विकल्पसे रहित करके वशीकृत मनसे हृदयसे ऊपर जानेवाली नाड़ीके द्वारा मूर्धामें आत्मा (प्राण) को स्थिर करके योगधारणामें स्थित हो जाय ॥ १२ ॥

प्राणको स्थिर करके—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ तथा उसके अर्थस्वरूप मुझ परमेश्वरको चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परम गतिको प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

जो अन्य विषयोंका चिन्तन नहीं करता एवं जिसका चित्त नित्य और निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता है ऐसे नित्ययुक्त योगीको मैं सुलभतासे प्राप्त होता हूँ। यहाँ 'सततं' और 'नित्यं' पदोंसे यह समझना चाहिये कि एक-दो महीना या वर्ष ही नहीं, किन्तु जीवनपर्यन्त निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये ॥ १४ ॥

सुलभ होनेसे क्या होगा ? सुनो—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मुझको प्राप्त करके याने मोक्षरूप परमसिद्धिको प्राप्त महात्मा आध्यात्मिक आदि समस्त दुःखोंके स्थान एवं अशाश्वत—स्थिर नहीं रहनेवाले पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

किन्तु अन्य देवताको प्राप्त करनेवाले फिर संसारमें आते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! ब्रह्मलोकसहित सब लोक पुनरावर्ती हैं। उनमें जाकर पुनः संसारमें जन्म लेना पड़ता है। किन्तु एक मुझको ही प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मलोकसहित सब लोक पुनरावर्ती क्यों हैं ? कालपरिच्छिन्न होनेसे। सो कैसे ?—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

प्रजापतिका एक सहस्र युगका एक दिन तथा एक सहस्र

युगकी एक रात्रि होती है। कालके परिमाणको जाननेवाले योगी लोग ऐसा जानते हैं ॥ १७ ॥

प्रजापतिके दिन एवं रात्रिमें क्या होता है ? सो कहते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

दिन होनेपर अर्थात् ब्रह्माके जागनेपर अव्यक्तसे (प्रजापतिकी निद्रावस्थासे) सभी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं और रात्रि आनेपर अव्यक्त नामवाली निद्रावस्थामें ही सभी प्राणी लीन हो जाते हैं। अविद्यामूलक क्लेश एवं कर्मके वश हुए ये सब प्राणी अवश होकर वारंवार जन्मते-मरते रहते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

ये समस्त भूतसमुदाय—स्थावर-जंगम ब्रह्माके दिन होनेपर अवश होकर उत्पन्न होते हैं और रात्रि आनेपर परवश होकर उसीमें लीन हो जाते हैं। जबतक जीवको भगवत्प्राप्ति नहीं होती तबतक यह जन्म-मरणका प्रवाह चलता रहता है ॥ १९ ॥

अक्षर ब्रह्म कहकर उसकी प्राप्तिका उपाय 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादिसे बतला दिया। अब उसी अक्षरके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्त पर—अक्षर नामवाला ब्रह्म उस पूर्वोक्त अव्यक्तसे अत्यन्त भिन्न है। यहाँ अव्यक्तका अर्थ जो पहले कहा गया है,

जिससे सारे स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उस अव्यक्त—प्रकृतिसे पर अव्यक्त अक्षर ब्रह्म भिन्न है और सनातन है। ब्रह्मादि सब भूतोंके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

जो अव्यक्त अक्षर कहा गया है, उसी अक्षर अव्यक्त स्वरूपको परम श्रेष्ठ गति कहते हैं। जिसको प्राप्त करके पुनः संसारमें नहीं लौटते अर्थात् जन्म-मरणरहित हो जाते हैं, वही मेरा परम श्रेष्ठ धाम—स्वरूप है ॥ २१ ॥

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि पर और अव्यक्त प्रकृतिको भी कहते है, क्योंकि महत्तत्त्वादि समस्त कार्य-वर्गोंसे वह पर और अव्यक्त है। और पर अव्यक्त अक्षर ब्रह्मको भी कहते हैं, क्योंकि वह पर अव्यक्त प्रकृतिसे भी पर और अव्यक्त है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(कठ १ । ३ । ११)

परमधाम-प्राप्तिका उपाय—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

वह परम श्रेष्ठ पुरुष परमात्मा ज्ञानलक्षणवाली आत्मविषयक अनन्य भक्तिसे प्राप्त होता है, जिस परमात्माके भीतर समस्त भूत-प्राणी हैं, क्योंकि कार्य कारणके अन्तर्भूत हुआ करता है; और जिससे सारा संसार व्याप्त है अर्थात् कार्यमें कारण अनुस्यूत रहता है ॥ २२ ॥

जो ओंकारकी उपासना करनेवाले योगी हैं, जिनको कालान्तरमें अर्थात् क्रम-मुक्ति प्राप्त होती है, और जो लौटते हैं, जिनका प्रकरण चल भी रहा है, उनके पुनरावृत्ति-मार्गका वर्णन दूसरे मार्गकी स्तुति करनेके लिये है—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतर्षभ ! जिस कालमें योगी मरनेपर नहीं लौटते और जिस कालमें जाकर लौट आते हैं, उस कालको कहूँगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

जिस मार्गमें अग्नि एवं ज्योतिका अभिमानी, दिनका अभिमानी, शुक्लपक्षका अभिमानी और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता—ब्रह्मकी उपासनामें तत्पर पुरुष क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और वे लौटकर फिर जन्म नहीं लेते हैं। क्रम यह है कि अग्नि एवं ज्योतिका अभिमानी देव दिनके अभिमानी देवको और दिनका अभिमानी देव शुक्लपक्षाभिमानीको और शुक्लपक्षाभिमानी देव उत्तरायणाभिमानी देवको दे देता है, उसके आगे ब्रह्मलोकवासी ही उसको ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं ॥ २४ ॥

अब आगे केवल वर्णाश्रम कर्म करनेवालेके लिये मार्ग बतलाते हैं—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

जिस मार्गमें धूम और रात्रिका अभिमानी, कृष्णपक्षाभिमानी, और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता हैं, उस मार्गमें गया हुआ योगी अर्थात् केवल कर्म (इष्ट, पूर्त, अग्निहोत्रादि) करनेवाला कर्मी चान्द्रमस ज्योतिको प्राप्तकर—कर्मफलको भोगकर पुनः संसारमें लौट आता है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

यह दो प्रकारकी गति है—जिसमें ज्ञानका प्रकाश है वह शुक्ल और जिसमें ज्ञानके प्रकाशका अभाव है वह कृष्ण—ये दो मार्ग जगत्‌के लिये याने केवल ज्ञानी (उपासक) और कर्मीके लिये नित्य कहे गये हैं, क्योंकि सबकी यह गति सम्भव नहीं है। इनमेंसे एक शुक्लसे जाकर नहीं लौटता और दूसरा कृष्णसे जाकर लौट आता है।

सम्यक् ज्ञाननिष्ठको कहीं जाना नहीं पड़ता है—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' यह श्रुति है और पामर अधम जीवोंके लिये तो 'जायस्व म्रियस्व' यह तीसरा मार्ग है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार जो दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जान लेता है, वह योगी कभी कामनाओंमें मोहित नहीं होता है, इसलिये तुम सब कालमें योगयुक्त बन जाओ ॥ २७ ॥

योगका माहात्म्य सुनो—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदोंके, यज्ञोंके, तपोंके और दानोंके जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सब फलोंको योगी, सात प्रश्नोंके निर्णयद्वारा कहे हुए तत्त्वको जानकर, अतिक्रमण कर जाता है और आदिमें होनेवाले परम उत्कृष्ट धामको याने परम ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे तारकब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

आठवें अध्यायमें धारणायोगका अंगोंसहित वर्णन किया गया और उसका फल अग्नि, ज्योति आदिके द्वारा क्रममुक्ति याने ब्रह्मप्राप्ति कहा गया। अब नवम अध्यायमें ज्ञानके द्वारा साक्षात् ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्षका वर्णन करनेकी इच्छासे भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

जो ब्रह्मज्ञान पूर्व अध्यायमें कहा गया और आगे भी कहा जायगा, उसी ज्ञानको 'इदं' इस शब्दसे निर्देश करते हैं और 'तु' शब्द अन्य ज्ञानोंसे उसकी विलक्षणता बतानेके लिये है।

असूयासे रहित तुझ भक्तके लिये मैं विज्ञान—अनुभवके सहित ज्ञान (ब्रह्मस्वरूप) कहूँगा, जो अत्यन्त रहस्यमय है तथा जिसको जानकर तुम संसारबन्धनसे छूट जाओगे ॥ १ ॥

वह ज्ञान—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

सर्वविद्याओंसे अतिशय प्रकाशमान होनेसे राजविद्या है एवं गुप्त रखने योग्य वस्तुओंमें भी अत्यन्त गुह्य है। यह पवित्र भी है—क्षणमात्रमें अनन्त जन्मोंके पाप नाश करनेवाला है। लिखा भी है—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्तावनि-
यज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संतर्पिताः ।
संसाराच्च समुद्धृतास्स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्यो ह्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

तथा यह उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला, धर्मयुक्त एवं अत्यन्त सुगम याने सुखपूर्वक किया जानेवाला है। इसका फल भी अव्यय है, अर्थात् सुगमतासे जो वस्तु प्राप्त होती है उसका फल अल्प एवं विनाशी होता है, किन्तु यह वैसा नहीं है इसका कभी विनाश होता ही नहीं है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

परन्तु हे परंतप ! जो श्रद्धासे रहित हैं वे पुरुष परमेश्वरके

स्वरूपभूत आत्मज्ञानरूप धर्मको प्राप्त न करके मृत्युयुक्त संसार-मार्गमें बारंबार जन्मते-मरते रहते हैं ॥ ३ ॥

स्तुतिके द्वारा अर्जुनको संमुख करके कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मैं अव्यक्तस्वरूपसे जगत्में व्याप्त हूँ, अव्यक्तस्वरूप मुझ परमात्मामें ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब प्राणी स्थित हैं। परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ क्योंकि मैं असंग हूँ, अधिष्ठानरूप मुझमें वे सब स्थित हैं ॥ ४ ॥

मैं असंग हूँ, अतः—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

ब्रह्मादि सब प्राणी मुझमें नहीं हैं--इस मेरे ईश्वरीय योगको देखो। तथा यह भी आश्चर्य देखो कि असंग होकर भी भूतोंको भरण—धारण करता हूँ और भूतोंमें मैं नहीं हूँ। और समस्त भूतोंको उत्पन्न करता हूँ एवं बढ़ाता हूँ इसीलिये लोग मुझको भूतभावन भी कहते हैं ॥ ५ ॥

दो श्लोकोंसे कहे गये अर्थको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

लोकमें यह देखा जाता है कि सर्वत्र घूमनेवाला महत्परिमाण वायु सदा आकाशमें ही स्थित रहता है, उसी प्रकार आकाशके

तुल्य सर्वव्यापक मुझमें समस्त भूत स्थित रहते हैं—ऐसा जानो ॥ ६ ॥

जैसे वायु आकाशमें स्थित है उसी प्रकार स्थितिकालमें सब प्राणी मुझमें रहते हैं। और प्रलयकालमें—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे कौन्तेय ! प्रलयकालमें मेरी प्रकृतिमें सभी प्राणी लीन हो जाते हैं और उत्पत्तिकालमें मैं उसी अपरा त्रिगुणमयी प्रकृतिके द्वारा सबकी रचना करता हूँ ॥ ७ ॥

इस अविद्यारूपा—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको वशमें करके प्रकृतिके अनुसार अवश—अविद्यादिदोषयुक्त इन समस्त भूतोंकी वारंवार रचना करता हूँ ॥ ८ ॥

विषम भूतसमुदायके रचनेवाले आपको भी धर्माधर्मका सम्बन्ध तो होगा ही ? इसपर बोले—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनंजय ! उन कर्मोंमें उदासीन (निर्विकार), असंग (आसक्ति-रहित) एवं कर्तापनके अभावसे वे कर्म मुझ ईश्वरको बन्धनमें नहीं डालते हैं। यहाँ यह भी जानना चाहिये कि कर्तृत्वका अभिमान एवं फलासक्तिसे युक्त कर्म बन्धनमें डालनेवाले होते हैं। इन

दोषोंसे रहित कर्म करनेवाला जीव भी कर्मबन्धनसे छूट जाता है ॥ ९ ॥

समस्त भूतग्रामको रचता हूँ और उदासीनवत् भी रहता हूँ—ये दो विरुद्ध बातें कैसे कहते हैं ? इसपर बोले —

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे कुन्तीपुत्र ! द्रष्टामात्र, निर्विकारस्वरूप अधिष्ठाताकी अध्यक्षतामें अविद्यारूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृति समस्त चराचर जगत्को उत्पन्न करती है । मैं इसका अध्यक्ष हूँ इसीलिये यह चराचर व्यक्त और अव्यक्त रूपसे सदा परिवर्तित होता रहता है ।

यह सारा जगत्का व्यापार साक्षी चेतन आत्माके लिये ही होता है। आत्मा हृदयाकाशमें स्थित होकर समस्त व्यापारको जानता है । मैं यह खाता हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, मुझको यह सुख हो रहा है, मुझको दुःख हो रहा है—इत्यादि समस्त व्यापार ज्ञानके अधीन है । ज्ञानस्वरूप ही परमेश्वर है उसीमें सब लीन भी हो जाता है । इसमें श्रुतियाँ प्रमाण हैं, यथा —

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वे० उ० ६ । ११)

'सब भूतोंमें एक ही देव छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापी है, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अध्यक्ष है, सबका आधार, साक्षी, चेतन—शुद्धज्ञानस्वरूप और निर्गुण है' ॥ १० ॥

मैं यद्यपि नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव तथा सबका आत्मा हूँ, तो भी —

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मूढ जन सब भूतोंके आत्मा परमेश्वरस्वरूप मेरे यथार्थं पर भावको न जाननेके कारण मुझे मनुष्य-शरीरधारी समझकर अवज्ञा—अनादर करते हैं ॥ ११ ॥

कैसे—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

जिनकी कामना व्यर्थं, कर्मं व्यर्थं और ज्ञान व्यर्थं (निष्फल) हैं, वे अविवेकी मेरा निरादर करनेसे देहात्मवादी, राक्षसी और आसुरी प्रकृति—स्वभावका आश्रय करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् 'तोड़ो, फोड़ो, पियो, खाओ, दूसरेका धन लूटो' इत्यादि बोलनेवाले और क्रूरकर्मा हो जाते हैं ॥ १२ ॥

तथा जो श्रद्धायुक्त पुरुष भगवद्भक्तिमें लगे रहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

हे पार्थं ! वे उदार महात्मा शम-दम-दया-श्रद्धा आदि लक्षणवाली दैवी प्रकृतिको आश्रयण करके मुझ ईश्वरको सब भूतोंका आदि कारण और अव्यय जानकर अनन्यचित्त हो मेरा भजन करते हैं ॥ १३ ॥

कैसे—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

दृढव्रत—अचल निश्चयवाले भक्त ब्रह्मस्वरूप मेरा निरन्तर कीर्तन करते हुए, मुझको नमस्कार करते हुए, और इन्द्रिय-संयम, शम, दम, दया, अहिंसा आदि धर्मोंसे प्रयत्न करते हुए नित्य भक्तिसे युक्त हो मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

किस-किस प्रकारसे उपासना करते हैं ?—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

कुछ लोग अन्य उपासना त्यागकर केवल ज्ञानरूप यज्ञसे अर्थात् एकत्वरूप परमार्थज्ञानसे मेरी उपासना करते हैं, एवं कोई-कोई पृथक्—'आदित्य, चन्द्रमा आदि भेदसे विष्णु ही हैं' ऐसा समझकर आदित्यादि देवोंकी उपासना करते हैं। कोई सब रूपमें भगवान् ही हैं—ऐसा समझकर बहुत प्रकारसे मेरी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

यदि बहुत प्रकारसे उपासना करते हैं तो सब आपकी ही उपासना कैसे करते हैं ?—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

क्रतु—श्रुतिमें होनेवाला श्रौत कर्म मैं ही हूँ, यज्ञ—स्मृतिसे होनेवाला कर्म भी मैं ही हूँ, स्वधा—पितरोंके लिये दिया जानेवाला अन्न भी मैं ही हूँ, सब प्राणी जिसको खाते हैं वह व्रीहि, यव आदि ओषध भी मैं ही हूँ, तथा मन्त्र, आज्य—हवनीय घृत, अग्नि और हवन भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस सारे जगत्का पिता, माता, धाता—प्राणियोंके कर्मफलका विधान करनेवाला, पितामह—पिताका पिता, जाननेयोग्य वस्तु, पवित्र करनेवाला, ओंकार और ऋक्, साम, यजु सब कुछ मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति—कर्मफल, भर्ता—पालन करनेवाला, प्रभु—सबका स्वामी, कर्माकर्मका साक्षी, प्राणियोंका निवासस्थान, शरण—दुःखियोंके दुःख दूर करनेवाला, सुहृत्—प्रत्युपकारके बिना उपकार करनेवाला, एवं उत्पत्ति और प्रलयका कारण भी मैं ही हूँ। स्थान—प्राणियोंके रहनेकी जगह एवं निधान—कालान्तरमें उपभोग्य कर्मका भण्डार मैं ही हूँ और बीज—उत्पत्तिका कारण अविनाशी भी मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

हे अर्जुन ! सूर्यरूपसे मैं तपता हूँ, वर्षा भी मैं ही हूँ, वर्षाका शोषण करनेवाला मैं ही हूँ, अमृत एवं मृत्यु भी मैं ही हूँ। सद्-असद् सब मैं ही हूँ। यहाँ सत्का अर्थ कार्य और असत्का अर्थ कारण जानना चाहिये, क्योंकि भगवान् अपनेको असत् नहीं कह सकते हैं।

जो ज्ञानी एकत्व और पृथक्त्व आदि रूपसे उपासना करते हैं, वे अपने विज्ञानके अनुसार मुझको ही प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥

और जो विषय-वासनायुक्त अज्ञानी हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

जो भोगकी कामनावाले हैं—वे ऋक्, यजु और साम वेदत्रयके ज्ञाता यज्ञोंमें सोमरसके पानसे पापरहित होकर अपने पुण्यके फलसे इन्द्रलोक जाकर देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे सकामी विस्तृत स्वर्गलोकके भोगोंको भोग करके पुण्योंके क्षय हो जानेपर मृत्युलोकमें लौट आते हैं। इस प्रकार केवल वेदत्रयविहित कर्मोंका आश्रय लेनेवाले विषय-वासनायुक्त मनुष्य वारंवार संसारमें आते-जाते रहते हैं, स्वतन्त्रता-लाभ नहीं करते हैं ॥ २१ ॥

और जो निष्कामी हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो आत्मदर्शी ज्ञानी हैं, वे अनन्यभावसे मेरा ही चिन्तन

करते हैं, मुझ ईश्वरसे अन्य कुछ भी नहीं जानते, ऐसे नित्ययुक्त सम्यक्‌दर्शीके योग—अप्राप्तकी प्राप्ति, क्षेम—प्राप्त वस्तुकी रक्षा अर्थात् योग-क्षेम दोनों काम मैं स्वयं ही करता हूँ ॥ २२ ॥

जब अन्य देव भी आप ही हैं तब तो उनके भक्त भी आप ही का पूजन करते हैं—यह ठीक ही है, तथापि—

> येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
> तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कौन्तेय ! जो अन्य देवताओंमें भक्ति करनेवाले श्रद्धा—आस्तिक्यबुद्धिसे पूजन करते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं; किन्तु वे अविधि—अज्ञानपूर्वक मेरा पूजन करते हैं ॥ २३ ॥

उनका पूजन अविधिपूर्वक कैसे है ? सुनो—

> अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
> न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

समस्त श्रौत एवं स्मार्त यज्ञोंका देवतारूपसे भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ। मेरे यथार्थस्वरूपको अज्ञानी नहीं जानते हैं, इसीलिये वे अविधिपूर्वक पूजन करके यज्ञके अन्तःकरणशुद्धिरूप यथार्थ फलसे भी च्युत हो जाते हैं ॥ २४ ॥

जो दूसरे देवताओंकी भक्तिके रूपमें अविधिसे मेरा पूजन करते हैं, उनको भी यज्ञका फल अवश्य मिलता है। कैसे ? सुनो—

> यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
> भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओंके व्रत धारण करनेवाले देवताओंको एवं पितरोंके व्रत करनेवाले पितरोंको तथा भूतगण—विनायक, षोडशमातृकाओंका पूजन करनेवाले भूतगणोंको और मेरा पूजन करनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं। समान आयास होनेपर भी वे अज्ञानके कारण मुझ परमेश्वरका पूजन नहीं करते हैं ॥ २५ ॥

मेरे भक्त अनावृत्तिरूप अनन्त फल ही नहीं प्राप्त करते किन्तु मेरी उपासना भी सुखपूर्वक की जा सकती है। कैसे ?—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

प्रयतात्मा—शुद्धबुद्धिसे युक्त पुरुष पत्र, पुष्प, फल और जल जो कुछ भक्तिपूर्वक मुझको अर्पण करता है उसके भक्तिसे दिये हुए पदार्थोंको मैं प्रसन्न हो ग्रहण कर लेता हूँ ॥ २६ ॥

इसलिये—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कौन्तेय ! जो कुछ श्रौत या स्मार्त कर्म करते हो, जो खाते हो, जो पीते हो, जो हवन करते हो, जो कुछ भी दान करते हो तथा जो तपस्या करते हो, वह सब मुझमें समर्पण कर दो ॥ २७॥

ऐसा करनेसे क्या होगा ? सुनो—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

संन्यासयोगसे युक्त अन्तःकरणसे मुझमें सब कर्म अर्पण करनेपे

शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म-बन्धनोंसे छूटकर मुझको प्राप्त हो जाओगे ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

मैं सब प्राणियोंमें समानरूपसे हूँ । न मेरा कोई द्वेष्य है न कोई प्रिय है । जैसे अग्नि समान है, उसके समीप नहीं जानेसे शीत निवारण नहीं होता और समीप जानेसे शीत निवारण हो जाता है, इसी प्रकार जो भक्तिसे मुझको भजते हैं, वे स्वभावसे मुझमें स्थित हैं और मैं स्वभावसे उनमें हूँ ॥ २९ ॥

भक्तिकी महिमा सुनो—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

यदि कोई अत्यन्त बुरा आचरण करनेवाला भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है ॥ ३० ॥

बाह्य दुराचारको छोड़कर जिसको यह निश्चय है कि भजन ही सार है, वह—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और नित्य शान्तिको प्राप्त करता है । हे कौन्तेय ! तुम निश्चित प्रतिज्ञा करो कि मुझमें समर्पित अन्तःकरणवाले मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता है ॥ ३१ ॥

और भी—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे पार्थ ! जिनके जन्मका कारण पाप है ऐसे स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय—अवलम्बन करके परा—उत्तम गतिको प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि—

'यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा' (छा० ५।१०।७) इस मन्त्रमें वैश्यको रमणीय-पुण्ययोनि कहा गया है, तथा गीतामें ही स्त्रियोंको अपना विभूति वर्णन किया गया है—'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणाम्' इत्यादि और इसके विपरीत यहाँ 'येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः' इत्यादिसे इनको पापयोनि कहा गया है; ऐसा क्यों ?

इसका समाधान यह है कि वैश्यको वैदिक कर्ममें अधिकार है इसलिये तो पुण्ययोनि कहा गया है, तथा इनका कर्म कृषि, वाणिज्य आदि कहा गया है, इन जीविकाके कर्मोंमें प्रायः ज्ञान, ध्यान और त्याग आदिका अवसर नहीं मिलता इसलिये पापयोनि कहा गया। इसी प्रकार स्त्रियोंको भी गृहकर्मकी दृष्टिसे पापयोनि कहा गया है ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

तब पुण्ययोनि ब्राह्मण और भक्त राजर्षियोंका कहना ही क्या ?

इसलिये अनित्य (क्षणभङ्गुर) तथा दुःखरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त करके मुझ ईश्वरका भजन करो ॥ ३३ ॥

कैसे भजन करूँ ? सुनो—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मुझमें ही मनवाला, मेरा भक्त, मेरा ही यजन करनेवाला और मुझको ही नमस्कार करनेवाला हो जा। इस प्रकार मनको समाहित करके मेरे ही शरण होकर आत्मस्वरूप मुझ परमेश्वरको प्राप्त हो जाओगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

सातवें और नवें अध्यायोंमें भगवत्तत्त्व और विभूतियोंका कथन किया गया। अब जिन-जिन भावोंमें भगवान् चिन्त्य हैं उन-उन भावोंका वर्णन किया जाता है। यद्यपि भगवान्के तत्त्वका वर्णन किया जा चुका है, तथापि दुर्विज्ञेय होनेसे पुनः उसका वर्णन किया जाता है।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! पुनः मेरे परम—उत्तम (श्रेष्ठ) वस्तुके प्रकाशक वचनको सुनो, जिसे मैं प्रसन्नचित्त तुम्हारे हितकी कामनासे कहूँगा ॥ १ ॥

किसलिये कहता हूँ ?—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

ब्रह्मा आदि देवगण और भृगु आदि महर्षिगण भी मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते हैं, अथवा मेरे प्रभाव—प्रभुशक्तिको नहीं जानते; क्योंकि सब प्रकारसे देवता और महर्षियोंका आदि—मूल मैं हूँ ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

मैं देवताओं एवं महर्षियोंका आदि हूँ, मेरा आदि दूसरा कोई नहीं है । इसलिये मैं अज और अनादि हूँ एवं लोकोंका महेश्वर भी हूँ । इस प्रकार जो मुझको अजन्मा, अनादि, सर्वेश्वर जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानी सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

इस कारण भी मैं महेश्वर हूँ—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

बुद्धि—सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थ जाननेवाली अन्तःकरणकी शक्ति, ज्ञान—आत्मा एवं अनात्मवस्तुका बोध, असंमोह—ज्ञातव्यविषयोंमें विवेकपूर्वक प्रवृत्ति, क्षमा—किसीके ताड़ना करनेपर भी चित्तमें विकारका न होना, सत्य—देखी-सुनी वस्तुको ठीक-ठीक कहना,

दम—बाह्य इन्द्रियसंयम, शम—अन्तःकरणका संयम, सुख—आह्लाद, दुःख—संताप, भव—उत्पत्ति, अभाव—विनाश, भय और अभय ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अहिंसा—किसी प्राणीको पीड़ा नहीं देना, समता—समानभाव, तुष्टि—यथालाभमें संतोष, तप—इन्द्रियसंयमपूर्वक शरीरको तपाना, दान—यथाशक्ति धन देना, यश—धर्मसे प्राप्त कीर्ति, अयश—अपकीर्ति—ये सब प्राणीको अपने-अपने कर्मोंके अनुसार होनेवाले बुद्धि आदि अनेक भाव मुझ ईश्वरके द्वारा ही होते हैं ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

और भृगु आदि सप्त महर्षि, बीते हुए चार मनु—ये सभी मुझमें भावनावाले मेरे मनसे उत्पन्न हुए हैं और इनके द्वारा सब चर-अचर प्रजा रचित—उत्पन्न हुई है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

मेरे इस विस्तारको, योग (युक्ति)—मायिक घटनाको, अथवा योगके ऐश्वर्यको जो तत्त्वसे जानता है, वह अविकम्प (अचल योग)से युक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

अविचल योगसे कैसे युक्त होता है ?—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सारे जगत्‌का उत्पत्तिका कारण हूँ, मेरे ही द्वारा स्थिति, नाश, क्रिया, फलोपभोगरूप विकारमय सारा जगत् घुमाया जा रहा है, इसको तत्त्वसे जानकर परमार्थतत्त्वकी भावनासे युक्त हो बुद्धिमान्—तत्त्वज्ञानी मेरा भजन करते हैं ॥८॥

और—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

जिनका चित्त मुझमें ही लगा हुआ है एवं मुझमें ही प्राण—चक्षु आदि इन्द्रिय लगे हैं, अथवा जिन्होंने मुझमें ही सारा जीवन अर्पण कर दिया है, तथा जो परस्पर मेरे ही तत्त्वका कथन और श्रवण करते हैं तथा मेरे ही ज्ञान, बल और सामर्थ्यका वर्णन करते हुए संतुष्ट रहते हैं एवं मेरे चरित्रमें ही रमण करते हैं ॥९॥

उक्त प्रकारसे जो भक्त मेरा भजन करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

जो सब एषणाओंसे रहित प्रीतिपूर्वक—भक्तियुक्त निरन्तर मुझको भजते हैं उनको वह सम्यक् दर्शनरूप बुद्धियोग देता हूँ कि जिससे वे मुझको आत्मस्वरूपसे प्राप्त कर लेते हैं ॥ १० ॥

आपके दर्शनमें कौन-सा प्रतिबन्ध—रुकावट है जिसको दूर करनेके लिये भक्तोंको बुद्धियोग देते हैं ?—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनपर दया करके उनके कल्याणके लिये उनके आत्मभाव (हृदय)में स्थित होकर उनके अन्तःकरणमें स्थित महान् अज्ञानरूप तमको प्रकाशमय विवेक-बुद्धिरूप ज्ञानदीपक जलाकर नाश कर देता हूँ।

अभिप्राय यह है कि—भक्तिके प्रसादरूप घृतसे भरे और मेरी भावनाके अभिनिवेशरूप वायुसे प्रज्वलित दीपकमें ब्रह्मचर्यादि साधनोंके संस्कारोंसे युक्त बुद्धिरूपी बत्ती है, वह शुद्धान्तःकरणमें स्थित है तथा ध्यानजनित प्रकाशसे युक्त है, उस ज्ञानदीपसे उनके मोह-तमको नाश कर देता हूँ ।

श्रीतुलसीदासजीने ज्ञानका वर्णन इस प्रकार किया है—

नारायणकी कृपासे सात्विकी श्रद्धा हृदयमें गौ बनकर वास करे एवं वेदविहित वर्णाश्रमधर्म—जप-तप-व्रत आदि हरी घास खाय तथा भगवत्प्रेमरूप बछड़ा पाकर पन्हाय, तथा सत्य, शौच, दान, दयारूप स्तनोंसे, कामनात्यागरूप रस्सीसे गायको बाँधकर विश्वासरूप पात्रमें निर्मल मनरूप अहीर दुग्ध दूहे और निष्कामरूपी अग्निमें औटाकर दही जमावे एवं विवेकरूप मथानीसे मथकर मक्खन निकाले और योगाग्निसे तपाकर शुद्ध करे। ऐसे घृतसे दीपक जलाकर अज्ञानको दूर करे ।

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई । जौ हरि कृपाँ हृदयँ बस आई ॥
जप तप व्रत यम नियम अपारा । जे श्रुति कह शुभ धर्म अचारा ॥
तेइ तृण हरित चरै जब गाई । भाव वत्स शिशु पाइ पेन्हाई ॥
नोइ निवृत्ति पात्र विश्वासा । निर्मल मन अहीर निज दासा ॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई । अवटै अनल अकाम बनाई ॥

तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावन देइ जमावै॥
मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥

दो०—जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥

सो०—एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥

विशेष रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड दोहा ११६ से ११७ तक देखना चाहिये॥ ११॥

भगवान्‌की विभूति और योगको सुनकर अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥

आप परमात्मा, परम तेज एवं परम पावन हैं; नित्य, देवलोकमें रहनेवाले, सब देवोंके आदिदेव हैं; अजन्मा और व्यापक भी हैं॥ १२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

वसिष्ठादि सभी ऋषि एवं देवर्षि नारद तथा असित, देवल, व्यास भी इसी प्रकार कहते हैं और आप स्वयं मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! ऋषियोंके द्वारा कही हुई और आप स्वयं जो कह रहे हैं उन सब बातोंको मैं सच मानता हूँ । हे भगवन् ! आपकी उत्पत्तिको न देवता न दानव ही जानते हैं ॥ १४ ॥

आप देवादि सबके कारण हैं, अतः—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे भूतभावन ! हे जगत्पते ! हे देवदेव ! स्वयं अपने ही आप अपने निरतिशय ज्ञान, सामर्थ्य और ऐश्वर्यको जानते हैं ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

आपकी जो दिव्य विभूतियाँ हैं, जिन विभूतियोंसे समस्त लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उनको पूर्णतया कहनेमें आप ही समर्थ हैं ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन् ! हे भगवन् ! सदा चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ । किन-किन वस्तुओंमें मैं चिन्तन करूँ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन ! अपनी योगैश्वर्यरूप शक्तिविशेषको एवं विभूति—चिन्तन करने योग्य वस्तुओंके विस्तारको विस्तारपूर्वक कहिये । आपकी अमृतमय वाणीको सुननेसे तृप्ति नहीं होती है । यद्यपि पहले कह चुके हैं तथापि पुनः कहिये ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

भगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब अपनी दिव्य प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तुमसे करूंगा, मेरी विभूतियोंके विस्तारका तो अन्त ही नहीं है ॥ १९ ॥

प्रथम विभूति सुनो—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश ! गुडाका—निद्राको जय करनेवाले अर्जुनका नाम गुडाकेश है अथवा घना केश होनेसे भी उनका नाम गुडाकेश है । मैं सब भूतोंके अन्तःकरणमें प्रत्यगात्मा—अन्तरात्मा हूं एवं सब भूतोंका आदि—कारण, मध्य और अन्त भी मैं ही हूं ॥ २० ॥

इस रूपमें भी मैं ध्येय हूं—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

द्वादश आदित्योंमें मैं विष्णु हूँ, प्रकाश करनेवाली ज्योतियोंमें अंशुमान्—किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ, मरुत्—वायुओंमें मैं मरीचि नामक देवता हूँ और नक्षत्रोंमें मैं शशी—चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदोमें मैं साम वेद हूँ, रुद्र, आदित्य आदि देवोंमें मैं वासव—इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ, भूत—कार्यंकरणके समुदायरूप शरीरमें नित्य प्रकाशित बुद्धिकी निश्चयात्मिका वृत्ति—चेतना भी मैं हूँ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

एकादश रुद्रोंमें मैं शंकर हूँ, यक्ष एवं राक्षसोंमें मैं कुबेर हूँ, आठ वसुओंमें मैं पावक—अग्नि हूँ और पर्वतोंमें मैं सुमेरु पर्वत हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ! राजपुरोहितोंमें मुख्य—प्रधान पुरोहित बृहस्पति मुझको जानो, सेनापतियोंमें स्कन्द—कार्तिकेय हूँ और सरोवरोंमें मैं समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षियोंमें मैं भृगु हूँ, वाणियोंमें मैं प्रणव—ओंकार हूँ, यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ और पर्वतोंमें मैं हिमालय हूँ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सब वृक्षोंमें मैं अश्वत्थ—पीपल हूँ, देवर्षियोंमें मैं नारद हूँ, गन्धर्वोंमें मैं चित्ररथ हूँ और सिद्धोंमें मैं कपिल मुनि हूँ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अमृतके लिये किये हुए समुद्र-मन्थनसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक अश्व मुझको ही जानो, गजेन्द्रोंमें इरावतीका पुत्र ऐरावत मैं ही हूँ और मनुष्योंमें मैं राजा हूँ ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

शस्त्रोंमें मैं वज्र हूँ, दूध देनेवाली गौओंमें समस्त कामना पूर्ण करनेवाली वसिष्ठकी कामधेनु मैं हूँ अथवा सामान्य भावसे जो भी कामधेनु है वह मैं हूँ, प्रजा उत्पन्न करनेवालोंमें मैं कामदेव हूँ और सर्पोंमें मैं वासुकि हूँ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागोंमें मैं अनन्त हूं, जलीय जीवोंमें मैं वरुण हूँ, पितरोंमें मैं अर्यमा हूँ और शासन करनेवालोंमें मैं यम हूँ ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्योंमें मैं प्रह्लाद हूँ, गिननेवालोंमें मैं काल हूं, (काल इतना सावधान है कि एक क्षण भी भूल नहीं करता) मृगोंमें मैं मृगेन्द्र—सिंह हूँ और पक्षियोंमें गरुड़ हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवित्र करनेवालोंमें मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूँ, मछलियोंमें मैं मकर हूँ, नदियोंमें मैं गङ्गा हूँ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! सृष्टियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय मैं ही हूं। विभूतियोंके आरम्भमें भी—'आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ' ऐसा कहा है किन्तु पहले केवल जीवसे अधिष्ठित प्राणियोंकी उत्पत्ति आदि कही थी और यहाँ 'समस्त जगत् मात्रकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मैं ही हूँ'—यह कह रहे हैं। विद्याओंमें मोक्ष देनेवाली अध्यात्मविद्या मैं हूँ, वक्ताद्वारा बोले जानेवाले वादमें अर्थनिर्णय-का हेतुभूत प्रधान वाद मैं हूँ। वादके तीन रूप हैं जल्प, वितण्डा और वाद। यहाँ इन तीनोंका ग्रहण करना चाहिये—अर्थात् इनमें मैं वाद हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

वर्णोंमें मैं ओंकार हूँ, समासोंमें मैं द्वन्द्व समास हूँ, अक्षय—अविनाशी कालोंका काल मैं परमेश्वर हूँ, कर्मफल देनेवाला धाता मैं हूँ और सब ओर मुखवाला परमात्मा मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सर्वहर—धन एवं प्राणका नाश करनेवाला मृत्यु मैं ही हूँ, भविष्यमें जिनका कल्याण होनेवाला है उन प्राणियोंके उद्भव—उन्नतिकी प्राप्तिका कारण मैं ही हूँ और स्त्रियोंमें जो कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति और क्षमा—ये उत्तम स्त्रियाँ हैं वे सब मैं ही हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

तथा सामगानोंमें बृहत्साम मैं हूँ, छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ, महीनोंमें मैं मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओंमें मैं वसन्त ऋतु हूँ ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करनेवालोंमें पासा खेलनारूप द्यूत मैं ही हूँ, तेजस्वियोंमें मैं तेज हूँ, जय करनेवालोंमें मैं विजय हूँ, व्यवसायियों—उद्यम करनेवालोंमें उद्यम हूँ और सात्त्विक जीवोंमें सत्त्व मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिवंशियोंमें मैं वासुदेव हूँ, पाण्डवोंमें मैं धनंजय हूँ, मननशील मुनियोंमें मैं व्यास हूँ और कवियों—क्रान्तदर्शियोंमें मैं शुक्राचार्य हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

उद्दण्डोंको दमन करनेवाली शक्ति मैं हूँ, जय चाहनेवालोंमें मैं नीति—न्याय हूँ, गोप्य पदार्थोंमें मैं मौन हूँ और ज्ञानवानोंमें मैं ज्ञान हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन ! सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण मैं ही हूँ । संसारमें कोई भी चर एवं अचर पदार्थ ऐसा नहीं है जो निरात्मक याने मुझसे रहित हो । तात्पर्य यह कि सब कुछ मेरा ही स्वरूप है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है । सर्वात्मा ईश्वरकी दिव्य विभूतियाँ इतनी ही हैं—यह सीमा नहीं कही जा सकती । यह तो उद्देश—एकदेशमात्रसे विभूतियोंका विस्तार मेरे द्वारा कहा गया है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

लोकमें जो भी विभूतियुक्त वस्तु है एवं श्रीमान् और ऊर्जित--उत्साहयुक्त हैं, वह सब-का-सब मुझ ईश्वरके तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा जानो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

हे अर्जुन ! बहुत जाननेसे तुमको क्या लाभ होगा, पूर्ण रूपसे इसी बातको जानो कि मैं एक अंशसे समस्त जगत्को दृढ़ता-पूर्वक धारण करके स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

भगवान्की विभूतियोंका वर्णन दशम अध्यायमें किया गया। उसके अन्तमें भगवान्ने कहा कि 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'—'मैं सारे जगत्को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ'। यह सुनकर जगदात्मस्वरूपका साक्षात् दर्शन करनेकी इच्छासे अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने गोप्य एवं अध्यात्म—आत्मा एवं अनात्माके विवेक-विषयक जो वचन कहा, उससे मेरा मोह दूर हो गया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

आपसे मैंने संसारके समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय भी विस्तारसे सुना और हे कमलपत्राक्ष ! आपका अव्यय—अविनाशी माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आपने जैसा अपनेको कहा है वह वैसा ही है; तथापि हे पुरुषोत्तम ! आपके उस सब ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल वीर्य और तेजसे सम्पन्न स्वरूपको देखनेकी इच्छा करता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! यदि उसे मेरे लिये दर्शन करनेके योग्य आप मानते हों तो हे योगेश्वर ! अपने अव्यय—अविनाशी स्वरूपका दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

हे पार्थ ! सैकड़ों, हजारों नाना प्रकारके दिव्य—देवलोकमें होनेवाले अलौकिक तथा नाना प्रकारके वर्ण और नाना आकृति-वाले मेरे स्वरूपको देखो ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! द्वादश आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र, दो अश्वि-नीकुमार और उनचास मरुद्गणको तथा जो रूप तुमने कभी नहीं देखे, न दूसरे ही किसीने देखे, उन आश्चर्यमय—अद्भुत रूपोंको देखो ॥ ६ ॥

इतना ही नहीं—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे गुडाकेश ! इस मेरे देहके एक देशमें स्थित समस्त चरा-चरको देखो, और भी जो कुछ देखना चाहते हो सो देखो ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

किन्तु मुझको तुम इन चक्षुओंसे नहीं देख सकते, अतः मैं तुमको दिव्य चक्षु देता हूं जिससे मेरे ऐश्वर्य एवं योगको देखो ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला--हे राजा धृतराष्ट्र ! इतना कहकर महायोगेश्वर भगवान् हरिने अर्जुनको ईश्वरीय विराट् स्वरूपको दिखाया ॥ ९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक विस्मयकारक दृश्योंवाला, अनेक दिव्य अलौकिक आभूषणोंसे युक्त और अनेक दिव्य शस्त्रोंसे युक्त रूप दिखाया ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिव्यमाला, दिव्यवस्त्र धारण किये हुए एवं दिव्य गन्धोंसे लिप्त, सब प्रकारसे आश्चर्यमय, अनन्त, दिव्य विश्वरूपको दिखाया ॥ ११ ॥

भगवान्के विराट् रूपके तेजकी उपमा—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

द्युलोकमें यदि एक साथ सहस्रों सूर्य उदय हों तो उस महात्मा विराट् पुरुषके प्रकाशके सदृश कदाचित् हों या न भी हों ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

अर्जुनने अनेक देव-पितृ-मनुष्यादि भेदोंसे विभक्त समस्त जगत्को भगवान्के शरीरमें एकत्र स्थित देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

उस अद्भुत रूपको देखकर आश्चर्ययुक्त और प्रफुल्लित रोमवाला धनंजय नम्रतापूर्वक शिरसे प्रणाम करके पुनः हाथ बाँधकर बोला ॥ १४ ।

विश्वरूप भगवान्के स्वरूपको देखकर अपना अनुभव प्रकट करता हुआ अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

हे देव ! आपके शरीरमें समस्त देवता, समस्त भूतविशेष, स्थावर-जंगम नाना रूपोंको मैं देख रहा हूँ तथा सब प्रजाके ईश, कमलासनपर बैठे, चतुर्मुख ब्रह्माजीको और वसिष्ठादि ऋषियोंको एवं देवलोकमें रहनेवाले दिव्य सर्पोंको भी मैं देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक वक्त्र और अनेक नेत्रवाले एवं सर्वत्र अनन्त रूपवाले आपको देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप ! आपका आदि, मध्य, अन्त भी नहीं देखता हूँ ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्-
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

किरीट एवं गदा और चक्र धारण किये, तेजःपुञ्ज, सब प्रकारसे दीप्तिमान्, सब ओर प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके तेजके समान, दुर्निरीक्ष्य, अप्रमेयस्वरूप आपको देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

इस योगशक्तिको देखकर मैं अनुमान करता हूँ—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

मुमुक्षुओंके जानने योग्य परम अक्षर आप ही हो, आप ही इस विश्वके परम श्रेष्ठ आश्रय हो, आप अव्यय—अविनाशी हो एवं

शाश्वत—सनातन धर्मके रक्षक और सनातन पुरुष भी हो—ऐसा मेरा मत है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त वीर्य, अनन्त बाहुओंसे युक्त, चन्द्र एवं सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखवाले अपने तेजसे समस्त विश्वको तपाते हुए आपको देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन् ! विश्वरूपधारी आपसे स्वर्ग एवं पृथिवीके मध्यका समस्त आकाश और सब दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं। इस अद्भुत आश्चर्यमय उग्र रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (भयभीत) हो रहा है ॥ २० ॥

अर्जुनको जो यह संशय था कि 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'—'उनको हम जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे'—इस संशयको दूर करनेके लिये 'पाण्डवोंकी निश्चय विजय दिखाऊँगा'—इस भावसे प्रवृत्त हुए भगवान्ने वैसा रूप दिखाया। उस रूपको देखकर अर्जुन बोला—

अमी हि त्वा सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

ये सब योद्धा, जो भूभार उतारनेके लिये मनुष्य रूपमें अवतार धारण करनेवाले देवताओंके संघ हैं, वे सब आपमें प्रवेश करते हैं, कोई भागनेमें असमर्थ होनेके कारण भयभीत हो हाथ जोड़कर आपकी स्तुति करते हैं। महर्षि एवं सिद्धोंके समूह युद्धारम्भसे उत्पातादि चिह्नोंको देखकर 'संसारका कल्याण हो' कहकर सम्पूर्ण स्तोत्रोंसे आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य आदि देवगण एवं विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण तथा उष्मपा नामके पितृगण और हाहा-हूहू आदि गन्धर्व, कुबेर आदि यक्ष, विरोचन आदि असुर और सिद्धोंके संघ—ये सभी आश्चर्ययुक्त हुए आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

अतः —

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो ! बहुत मुख, बहुत नेत्र, बहुत हाथ, बहुत जंघा, बहुत पैर एवं बहुत उदर और बहुत-से कराल दाँतोंसे युक्त आपका यह महान् रूप देखकर समस्त प्राणी और मैं भी व्यथित याने विचलित हो रहा हूँ ॥ २३ ॥

उसमें कारण यह है—

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

हे विष्णो ! आकाशका स्पर्श करनेवाला, अत्यन्त दीप्तिमान्, अनेक वर्णोंसे युक्त, फैलाये हुए अनेक मुख, दीप्त विशाल नेत्रयुक्त आपका यह स्वरूप देखकर मैं भयभीत अन्तरात्मा होनेसे धैर्य और शान्तिको नहीं प्राप्त करता हूँ ॥ २४ ॥

क्योंकि—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

कराल दाँतोंसे विकराल, कालानल—प्रलयकालीन अग्निके समान आपके स्वरूपको देखकर दिशा (पूर्वापर)का ज्ञान नहीं है;

और सुख भी नहीं है। अतः हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ॥ २५ ॥

जिनसे हमको पराजयकी शंका थी, वह अब चली गयी—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

ये सब धृतराष्ट्रके पुत्र एवं सब राजाओंके समूहके साथ भीष्म, द्रोण तथा यह कर्ण और प्रधान योद्धाओंके सहित हमारी सेनाएँ भी, सभी बड़े वेगसे आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

कराल दांतवाले विकराल आपके मुखमें ये सब योद्धा बड़े वेगसे प्रवेश करते हैं मुखमें प्रविष्ट कोई-कोई विचूर्णित मस्तकोंके सहित भक्षित मांसके समान दांतोंमें चिपके दिखाई दे रहे हैं ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे जलसे भरी हुई नदियाँ बड़े वेगसे समुद्रमें दौड़ती जाती हैं, वैसे ही ये सब नरलोकवीर आपके प्रज्वलित मुखमें प्रवेश करते चले जा रहे हैं ॥ २८ ॥

किसलिये तथा किस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं —

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे प्रदीप्त अग्निमें विनाशके लिये पतङ्ग—पक्षिविशेष बड़े वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब नरलोक विनाशके लिये आपके मुखमें प्रवेश करते चले जा रहे हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

हे विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखोंमें सब नरलोकोंको सब प्रकारसे ग्रास करते हुए उनको चाट रहे हैं। याने उनका स्वाद ले रहे हैं। और आपकी क्रूर दीप्तियाँ अपने तेजसे समस्त जगत्को व्याप्त करके तपा रही हैं ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे देववर—देवश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है। उग्र रूपवाले आप कौन हैं? सृष्टिके आदिदेव परमेश्वरको मैं जानना चाहता हूँ। आपकी प्रवृत्ति—चेष्टाको नहीं जानता हूँ; अतः प्रसन्न होकर विशेष रूपसे कहें ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

भगवान् बोले—लोकोंका क्षय करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ लोकोंका संहार करनेके लिये इस समय प्रवृत्त हूँ, तुम्हारे नहीं रहनेपर भी ये प्रतिपक्षी युद्धके लिये खड़े शूरवीर नहीं रहेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

हे सव्यसाचिन्! ये शूरवीर मेरेद्वारा पहले ही मारे गये हैं। इसलिये तुम निमित्त मात्र बनो—उठो, यश लाभ करो और शत्रुओंको जीतकर समृद्ध (सम्पन्न)—निष्कण्टक राज्य भोगो ॥३३॥

जिन-जिन वीरोंसे अर्जुनको भय था, उन्हींका नाम लेकर भगवान् कहते हैं—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धा जो मेरे-द्वारा पहले ही हत—मारे हुए हैं उनको तुम मारो । 'मा व्यथिष्ठाः'—भय मत करो, लड़ो; युद्धमें शत्रुओंको जीतोगे ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय कहते हैं—ऊपर कहे हुए भगवान्के वचनको सुनकर काँपता हुआ अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके भयभीत होनेके कारण गद्गद कण्ठसे नम्रतापूर्वक पुनः बोला ।

[भयभीत पुरुषोंके एवं हर्षोत्पत्तिके कारण स्नेहयुक्त पुरुषोंके नेत्रोंमें आँसू भर जाते हैं और कण्ठ कफसे रुक जाता है, उस समय वाणीमें जो अपटुता एवं मन्दता होती है उसको गद्गद वाणी कहते हैं । यहाँ संजयके बोलनेका रहस्य यह है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और जयद्रथ इन चार अजेय वीरोंके अर्जुनके द्वारा मारे जानेपर आश्रयरहित दुर्योधन तो मरा हुआ ही है—ऐसा समझकर

जयके प्रति निराश होकर धृतराष्ट्र सन्धि कर लेगा, इससे दोनों पक्षोंमें शान्ति हो जायगी; किन्तु धृतराष्ट्रने भावीवश इसको नहीं समझा]॥ ३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

अर्जुन बोला—हे हृषीकेश! आपके माहात्म्यके कीर्तन एवं श्रवणसे जगत् प्रसन्न होता है, यह उचित ही है। अथवा स्थाने—भगवान् हर्षके विषय हैं क्योंकि ईश्वर सबके आत्मा तथा सुहृत् हैं। इसलिये सब प्राणी उनसे प्रेम करते हैं यह उचित है। राक्षसगण भयभीत होकर दिशा-विदिशाओंमें भाग रहे हैं और सिद्धोंके समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं॥ ३६॥

भगवान् हर्षादिके विषय हैं—इसमें कारण कहते हैं—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे देवेश! हे जगन्निवास! क्यों नहीं ये सब लोग आपको नमस्कार करें; हे महात्मन्! आप गुरुसे भी गुरुतर अर्थात् हिरण्यगर्भके भी आदिकर्ता हैं। हे अनन्त! जो वेदान्तमें पर अक्षर

सुना जाता है वह आप ही हैं और सत्-असत्—कार्य-कारण अथवा स्थूल-सूक्ष्म ये दोनों जिसकी उपाधि हैं, वह ब्रह्म (अक्षर) आप हैं। अथवा सदसत् उपाधिके कारण अक्षर ब्रह्म ही उपचारसे सदसत् रूपसे कहा जाता है वह सब आप ही हैं। भाव यह कि आपसे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

जगत्की रचना करनेके कारण आप आदिदेव हैं, शरीररूप पुरमें रहनेसे सनातन पुरुष हैं तथा प्रलयादि कालमें आपमें ही जगत् स्थित रहता है अतः आप विश्वके परम निधान हैं। एवं जानने योग्य समस्त पदार्थोंके आप ज्ञाता हैं तथा वेद्य—जानने योग्य वस्तु भी आप ही हैं और हे अनन्तरूप ! आप परम धाम हैं। आपसे यह जगत् परिपूर्ण है याने आप जगत्में व्याप्त हैं ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा एवं कश्यपादि प्रजापति हैं तथा पितामह ब्रह्माके भी पिता (प्रपितामह) आप ही हैं। आपको नमस्कार है, बारंबार नमस्कार है, हजारों बार नमस्कार है। पुनश्च भूयोऽपि आपको नमस्कार है, नमस्कार है। यहाँ श्रद्धा

और भक्तिके उद्रेकसे अर्जुनका यह भाव है कि मैं वारंवार प्रणाम करनेपर भी तृप्त नहीं होता हूँ ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

तथा आगे—पूर्वदिशामें एवं पीछेसे आपको नमस्कार है। सब ओर स्थित आपको सब दिशाओंमें नमस्कार है। आप अनन्त वीर्य और अनन्त पराक्रमवाले हैं। आप एक रूपसे समस्त जगत्में व्याप्त हैं अतः आप सर्वरूप हैं; आपसे भिन्न कुछ नहीं है ॥ ४० ॥

आपका माहात्म्य न जाननेके कारण मैं अपराधी हूँ इसलिये—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

आप ईश्वरकी महिमा न जाननेके कारण अज्ञतासे समान अवस्थावाला समझकर मैंने अपमानपूर्वक जो आपको हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इत्यादि कहा है ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

तथा विहार, शय्या, आसन और भोजनमें, एकान्तमें आपके पीछेमें या आपके सामनेमें हँसीसे जो भी अपमान मेरे द्वारा हुआ है, हे अच्युत ! उस सब अपराधको अप्रमेय परमेश्वरसे मैं क्षमा कराता हूँ अर्थात् आप क्षमा करें ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

क्योंकि जगत्के समस्त चराचर प्राणिमात्रके उत्पन्न करनेवाले आप पिता हैं । केवल पिता ही नहीं, गुरुसे बड़े होनेसे आप पूज्य भी हैं ! हे अप्रतिमप्रभाव ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा नहीं है, अधिक तो हो ही कैसे सकता है ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिये मैं अपने शरीरको आपके चरणोंमें रखकर प्रणाम करके ईश—शासन करनेवाले, ईड्य—स्तुति करनेयोग्य आपको प्रसन्न करता हूँ । जैसे पुत्रके अपराधको पिता, मित्रके अपराधको मित्र अथवा प्रियाके अपराधको प्रिय (पति) सहन करता है, उसी प्रकार आपको मेरे अपराधोंको सहन करना—क्षमा करना उचित है ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

जो मुझसे या अन्य किसीसे कभी देखा नहीं गया है ऐसे अदृष्ट पूर्व विश्वरूपको देखकर मैं प्रमुदित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे विचलित हो रहा है। इसलिये हे देव! वही अपना रूप दिखाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये॥ ४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

हे विश्वमूर्ते! हे सहस्रबाहो! मैं आपको पूर्ववत् मुकुट धारण किये एवं हाथोंमें गदा और चक्र लिये हुए देखनेकी इच्छा करता हूँ। अतः आप इस विश्वरूपको छोड़कर पूर्ववत् वसुदेवपुत्र-रूप चतुर्भुज स्वरूपसे युक्त हो जाइये॥ ४६॥

अर्जुनको भयभीत देखकर विश्वरूप छोड़कर प्रिय वचनसे आश्वासन देते हुए भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर (अनुग्रह करके) अपने आत्मयोग—ऐश्वर्यकी सामर्थ्यसे यह तेजोमय, अनन्त, प्रथम होनेवाला (अनादि) विश्वरूप तुमको दिखाया है। तुम्हारे सिवा पहले इस विश्वरूपको किसीने नहीं देखा था ॥ ४७ ॥

'मेरा यह विश्वरूप देखकर तू कृतार्थ हो गया।' इस भावसे स्वरूप-दर्शनकी स्तुति करते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर ! न तो चारों वेदोंके अध्ययनसे न यज्ञविषयक विशेष विज्ञानसे एवं न दानसे तथा न श्रौत-स्मार्त अग्निहोत्रादि क्रियासे और न उग्र चान्द्रायणादि तपसे ही मेरे इस विश्वरूपका दर्शन हो सकता है जैसा कि मनुष्यलोकमें तुमने दर्शन किया है ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरे इस घोर विश्वरूपको देखकर तुमको भय नहीं होना चाहिये एवं विमूढ़ावस्था भी नहीं होनी चाहिये। भयसे रहित

होकर प्रसन्नमनसे मेरे उसी शंख-चक्रादिधारी चतुर्भुज स्वरूपको देखो ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय बोला—पूर्वोक्त वचन कहकर भगवान्ने अर्जुनको वसुदेवके घरमें प्रकट हुआ अपना रूप दिखाया। फिर प्रसन्नदेह महात्मा कृष्णने भयभीत अर्जुनको पुनः आश्वासन (धैर्य) दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन ! अपने मित्रके रूपमें आपके प्रसन्नमुख सौम्य मनुष्यरूपको देखकर अब मैं सचेत—प्रसन्नचित्त हूँ और अपनी प्रकृति (यथार्थ स्वरूप)को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

भगवान् बोले—मेरे दुर्दर्श (कठिनतासे दर्शन होनेवाले) जिस रूपको तुमने देखा, इस रूपका देवतालोग भी सदा दर्शन करनेकी इच्छा रखते हैं ॥ ५२ ॥

किसलिये—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

न चारों वेदोंके अध्ययनसे न चान्द्रायणादि तपसे एवं न दानसे और न यज्ञहीसे पहले दिखलाये गये इस प्रकारके मेरे रूपको कोई देख सकता है जिस प्रकार तुमने देखा है ॥ ५३ ॥

तो कैसे देख सकते हैं ? सुनो—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

हे अर्जुन ! अनन्य—भगवान्से अन्य किसीमें भी भक्ति नहीं हो, वह अनन्यभक्ति है अथवा अनन्य—समस्त इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्से अन्य किसी वस्तुकी उपलब्धि न हो उसका नाम अनन्य भक्ति है, उस अनन्यभक्तिसे यह मेरा विश्वरूप जाना जा सकता है एवं हे परंतप ! तत्त्वसे देखा भी जा सकता है और मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ॥ ५४ ॥

अब कल्याण-प्राप्तिके लिये कर्तव्यरूपसे गीताका सारभूत अर्थ संक्षेपमें कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

मुझ परमेश्वरके लिये ही कर्म करनेवाला और मुझको ही परमगति माननेवाला, सब प्रकारसे मेरा ही भजन करनेवाला,

स्त्री-पुत्रादिमें स्नेहसे रहित, किसीसे वैर—शत्रुता नहीं करनेवाला जो भक्त है, हे पाण्डव ! वही मुझको प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

दूसरे अध्यायसे दसवें अध्यायतक निरुपाधिक अक्षर ब्रह्म परमात्माकी उपासनाका वर्णन किया और जगह-जगह सत्वगुणरूप उपाधिविशिष्ट परमात्माकी भी उपासना कही एवं एकादश अध्यायमें उपासनाके लिये ही विश्वरूपका दर्शन कराया तथा 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इत्यादिसे भगवदर्थ कर्म करनेको भी कहा। अब इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है—यह जाननेके लिये—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—जो भक्त निरन्तर भगवदर्थ कर्ममें लगे हुए अनन्य भावसे आपके शरण होकर सगुण स्वरूपकी उपासना करते हैं तथा जो सर्वैषणाओंका एवं सर्वकर्मोंका भी त्याग करके अक्षर—अव्यक्त सर्वोपाधिरहित ब्रह्मका चिन्तन करते हैं—इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? ॥ १ ॥

जो अक्षर स्वरूपके उपासक हैं, उन्हें अभी छोड़ो; उनके विषयमें आगे कहा जायगा। परन्तु जो दूसरे सगुण-उपासक हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

भगवान् बोले—जो नित्य निरन्तर उत्तम श्रद्धासे युक्त भक्त सर्वज्ञ परमेश्वर मुझमें मनको समाधिस्थ करके उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं—यह मेरा मत है ॥ २ ॥

जो अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे क्या श्रेष्ठ नहीं हैं? ऐसी बात नहीं है। तो क्या है? सुनो—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

जो इन्द्रियोंके समुदायको विषयोंसे निरोध करके एवं सब काल इष्टानिष्ट-प्राप्तिमें समभाव रहकर सब भूतोंके हितमें तत्पर हो, अनिर्देश्य (जो किसी भी प्रकारसे बतलाया नहीं जा सकता), अव्यक्त (किसी भी प्रमाणसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता), आकाशके समान सर्वव्यापक, अचिन्त्य (इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान होता है उसी वस्तुका मनसे चिन्तन किया जाता है, इसके विपरीत होनेसे जो अचिन्त्य है) तथा कूटस्थ—कूट याने मायामें अधिष्ठान रूपसे स्थित रहनेवाले, अचल और ध्रुव—नित्य, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त करते हैं। वे प्राप्त ही नहीं करते, किन्तु वे तो 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' के अनुसार मेरे आत्मा ही हैं। यह मेरा मत है ॥ ३-४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

यद्यपि मेरे ही लिये कर्म करनेवाले साधकोंको भी बहुत क्लेश होता है, तथापि अव्यक्तमें आसक्त, अक्षर ब्रह्मका चिन्तन करनेवाले साधकोंको तो अधिकतर क्लेश होता है, क्योंकि देहाभिमानियोंको अक्षरात्मिका अव्यक्त गति बड़े दुःखसे प्राप्त होती है । (अक्षरोपासकोंका आचार-विचार-व्यवहार आगे कहेंगे) ॥ ५ ॥

इसी अभिप्रायका वर्णन भागवतमें इस प्रकार है—

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥

(स्क० ३ अ० ५ श्लो० ४५-४६)

हे देव ! आपकी कथारूपी अमृतके पानसे बढ़ी हुई भक्तिसे शुद्धान्तःकरणमें वैराग्यके सार बोध—ब्रह्म-ज्ञानको प्राप्त करके कालादिसे अप्रतिहत आपके धाम—स्वरूपको अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं । इनसे भिन्न जितेन्द्रिय धीर पुरुष समाधिरूप योगके बलसे बलिष्ठा प्रकृति (माया) को जीतकर भी आपहीको प्राप्त करते हैं, किन्तु उनको बड़ा श्रम—क्लेश होता है और जो सेवा आदि भक्तिमार्गसे आपको प्राप्त करते हैं उनको श्रम नहीं होता।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

जो समस्त कर्म मुझ ईश्वरमें समर्पण करके मत्परायण होकर अनन्य भावसे मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥६॥

उनका क्या होता है ?—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! मुझ परमात्मामें ही जिन्होंने चित्त लगा दिया है, उनका मृत्युरूपी संसारसागरसे शीघ्र ही मैं उद्धार करता हूँ ॥ ७ ॥

यह बात है, इसलिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मुझ परमात्मामें ही मन लगाओ और मुझमें ही अपनी बुद्धि स्थिर करो । इससे इस शरीरका पात होनेपर मुझमें ही निवास करोगे—इसमें संशय नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय ! जैसा मैंने कहा है वैसे चित्तको अचल रूपसे समाहित—स्थापित करना यदि अशक्य हो तो अभ्याससे—वारंवार मनको बाह्य विषयोंसे खींचकर अपने अवलम्बन (ध्येय)में स्थापित करनेकी इच्छा करो ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि अभ्यासमें भी असमर्थ हो तो मेरे लिये सब कर्म करनेमें तत्पर हो जाओ । मेरे लिये कर्म करते हुए भी अन्तःकरण-शुद्धि-द्वारा ज्ञानप्राप्तिरूप परमसिद्धि प्राप्त कर लोगे ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

यदि ऊपर कहे हुए प्रकार—मदर्थ कर्म करनेमें भी अशक्त हो तो समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण करके उनके अनुष्ठानरूप मद्योगका आश्रय करके एवं मनको वशमें करके सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग करो ॥ ११ ॥

अब सर्वकर्मफलत्यागकी स्तुति करते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अविवेकपूर्वक किये गये अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, उस ज्ञानसे भी ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है और ज्ञानयुक्त ध्यानसे भी कर्मफल-त्याग अत्यन्त श्रेष्ठ है। त्यागके अनन्तर तत्काल ही शान्ति होती है ।

जो पूर्वोक्त उपायोंके अनुष्ठानमें असमर्थ है, उसके लिये सर्व-कर्मफलत्याग कहा गया है, पहले नहीं; क्योंकि उत्तम साधनोंका अनुष्ठान करनेमें असमर्थ होनेपर यह साधन भी अनुष्ठान करनेके योग्य समझा जाता है । कर्मफलके त्यागके अनन्तर तत्काल शान्ति हो जाती है । शान्तिका हेतु है कामनाका त्याग—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० ६। १४)

'हृदयमें स्थित जब सब कामनाएँ नाश हो जाती हैं, तब मनुष्य अमृत हो जाता है।'

श्रौत-स्मार्त कर्मोंके फल ही काम हैं, उन कामनाओंके त्यागसे ज्ञाननिष्ठ विद्वान्को तुरन्त शान्ति मिलती है। अज्ञानीके कर्मफल-त्यागमें भी कामनाओंका त्याग हो ही जाता है—इस समानताके कारण यह कर्मफलत्यागकी स्तुति की गयी है एवं कर्मफलके त्यागसे कर्मयोगकी कल्याण-साधनता बतलायी गयी है।

कुछ लोग ऊपर कही गयी समानतासे ज्ञान एवं कर्मका समुच्चय मानते हैं; किन्तु भगवान् अर्जुनके अत्यन्त हितैषी हैं, अतः उन्होंने परस्परविरुद्ध ज्ञान-कर्मके समुच्चयका उपदेश नहीं दिया है, भेददृष्टियुक्त केवल कर्मयोगका ही उपदेश दिया है॥ १२॥

अब इसके आगे समस्त इच्छाओंका त्याग करनेवाले अक्षरो-पासक यथार्थ ज्ञाननिष्ठ संन्यासियोंके साक्षात् मोक्षके कारणरूप धर्मोंका वर्णन आरम्भ करते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३॥

जो अपनेको दुःख देनेवाले प्राणीसे भी द्वेष नहीं करता, सबके साथ मित्रता करता है, दीन-दुखियोंमें दया—करुणासे युक्त, ममता एवं अहंतासे रहित, सुख-दुःखमें भी राग-द्वेष नहीं करने-वाला और क्षमावान् है, वह भक्त मेरा प्रिय है—यह अगले श्लोकसे सम्बन्ध है॥ १३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

संतुष्ट—देहस्थितिके लिये प्राप्त पदार्थोंमें सदा अलंभावयुक्त, समाहितचित्त, देहादि संघातको अपने वश रखनेवाला, दृढ़-निश्चय—आत्मतत्त्वमें स्थिर बुद्धिवाला और मन एवं बुद्धिको मुझमें समर्पण करनेवाला भक्त मेरा प्रिय है । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥' —'ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मेरा प्रिय है ।' यह जो सातवें अध्यायमें कहा गया है, यहाँ उसीको विस्तारसे कहा है ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिस संन्यासीसे कोई प्राणी उद्विग्न (संतप्त)—क्षुब्ध नहीं होता एवं जो स्वयं साधारण जनके समान उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष—प्रिय-लाभमें प्रसन्नता, अमर्ष—असहिष्णुता, त्रास और उद्विग्नतासे रहित है, वह मेरा प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अनपेक्ष—देह, इन्द्रिय और इनके सम्बन्धियोंमें स्पृहा-रहित, शुचि—बाहर-भीतरसे पवित्र, दक्ष—व्यवहारमें चतुर, उदासीन—पक्षपात-रहित, निर्भय और कामनाके हेतुरूप समस्त कर्मोंको आरम्भ नहीं करनेवाला अर्थात् सर्वकर्मोंका त्याग करनेवाला जो भक्त है, वह मेरा प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

और जो इष्ट-प्राप्तिमें हर्ष एवं अनिष्ट-प्राप्तिमें द्वेष नहीं करता है, वह शोक तथा इच्छासे रहित और शुभाशुभ सब कर्मोंका त्यागी भक्तिमान् पुरुष मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

जो शत्रु एव मित्रमें तथा मान और अपमानमें समान रहता है एवं शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें भी समान रहनेवाला और सर्वत्र आसक्तिसे रहित है, वह भक्त मेरा प्रिय है ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो निन्दा एवं स्तुतिमें समान हो, मौनी—संयतवाक् हो, जिस किसी प्रकारसे भी संतुष्ट रहता हो, नियत स्थानसे रहित हो और आत्मतत्त्वमें जिसकी बुद्धि स्थिर हो, ऐसा भक्त मेरा प्रिय है ॥१९॥

परमार्थज्ञाननिष्ठ अक्षरोपासक संन्यासियोंके लिये 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इस श्लोकसे आरम्भ किये गये धर्मोंका उपसंहार किया जाता है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

जो संन्यासी 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोकसे कहे गये धर्ममय अमृतरूप उपदेशका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं, वे

मत्परायण—मैं ही जिनका गति हूँ ऐसे भक्त मुझ परमात्माको अत्यन्त प्रिय होते हैं और वे मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

सातवें अध्यायमें अपरा और परा दो प्रकारकी त्रिगुणात्मिका प्रकृति कही गयी। 'भूमिरापोऽनलो वायुः' से कही हुई अष्टधा अपरा क्षेत्र है। और 'जीवभूतां महाबाहो' से कही हुई परा जीवरूपा क्षेत्रज्ञ है।

इन दो प्रकृतियोंसे युक्त होकर ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण होता है। इन क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दो प्रकृतियोंके निरूपणद्वारा उन प्रकृतियोंवाले ईश्वरका तत्त्व निर्णय करनेके लिये यह अध्याय आरम्भ किया गया है।

बारहवें अध्यायमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' यहांसे आरम्भ करके अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त तत्त्वज्ञानी भक्तोंके व्यवहारका वर्णन किया गया है। यथोक्त धर्मोंके आचरण करनेसे वे किस तत्त्वज्ञानसे युक्त होकर भगवान्के प्रिय होते हैं—इस विषयको बतलानेके लिये भी यह अध्याय आरम्भ होता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति कार्य-करण रूपमें परिणत होकर पुरुषके भोग और मोक्षका सम्पादन करती है, वह कार्य-करण यही देह

इन्द्रियादि हैं जो शरीर कहलाता है उसका वर्णन करनेके लिये भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

'इदं' यह सर्वनाम शरीरका विशेषण है। यह शरीर शनैः शनैः क्षीण होता है इसलिये इसका नाम शरीर है, अथवा क्षेत्र (पृथिवी) के समान इसमें कर्मफल मिलता है, हे कौन्तेय! इसलिये इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र—शरीरको जो जानता है उस जाननेवालेको क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञके जाननेवाले ज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ १ ॥

ऊपर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ बतलाये गये; क्या इतने ज्ञानसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान हो जाता है? नहीं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत! ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त क्षेत्रों—शरीरोंमें क्षेत्ररूपी उपाधिको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ भी मुझ असंसारी परमेश्वरको जानो। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर—इन तीनोंके यथार्थ ज्ञानसे अन्य जानने योग्य कोई ज्ञानका विषय नहीं रह जाता। इसलिये ज्ञेय—जानने योग्य क्षेत्र—शरीर और क्षेत्रको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ—इन दोनोंका ज्ञान जिस ज्ञानसे होता है वही ज्ञान यथार्थ ज्ञान है—यह मुझ ईश्वरका मत है। अभिप्राय यह है कि—जब सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ ईश्वर ही है, ईश्वरसे अन्य क्षेत्रज्ञ नहीं

है, तब तो सब क्षेत्रोंमें ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ—जीवरूपमें प्रतीत हो रहा है, यही जीवात्मा और परमात्मामें अभेद ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहलाता है, इसी सम्यक् ज्ञानका नाम मोक्ष है, यही अभेद ज्ञान समस्त श्रुतियोंमें प्रतिपादन किया गया है, समस्त गीताका तात्पर्य भी यही है—यह जानना चाहिये।

अब प्रश्न यह होता है कि समस्त शरीरोंमें एक ही ईश्वर है, अन्य कोई नहीं है—ऐसा मानें, तब तो ईश्वरको संसारी मानना हुआ। अथवा ईश्वरसे अन्य संसारी कोई दूसरा नहीं है—ऐसा माना जाय तो संसारीका अभाव माननेपर संसारका अभाव ही मानना पड़ेगा। ये दोनों बातें अनिष्ट हैं; क्योंकि जब कोई संसारी नहीं है, तब बन्ध-मोक्ष तथा इनके कारणका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र भी अनर्थक ही सिद्ध होंगे और यह प्रत्यक्षादि प्रमाणके भी विरुद्ध होगा। एवं प्रत्यक्ष सुख-दुःख और उनका कारण संसार दिखायी दे रहा है। इसके सिवा जगत्में विचित्रता देखकर भी इसके कारण पुण्य-पापका होना अनुमानसे भी सिद्ध होता है। आत्मा और परमेश्वर एक माननेसे तो यह सब अनर्थक होने लगेगा। इसका उत्तर यह है कि ज्ञान और अज्ञानका भेद होनेसे यह सब बन जाता है। अविद्या और विद्या इन दोनोंका फलमें भेद है; अविद्याका फल प्रेय है और विद्याका फल श्रेय है।

'द्वाविमावथ पन्थानौ' 'ये दो ही मार्ग हैं।' यह व्यासजीने भी कहा है। यहाँ गीतामें भी दो ही निष्ठा कही गयी हैं। श्रुति-स्मृतिसे भी यही निश्चित होता है कि विद्यासे अविद्या एवं अविद्याके कार्यका नाश करना चाहिये।

इस विषयमें ये श्रुतियाँ हैं—

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'

(के० उ०) 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता०) 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक०) 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ०)।

स्मृतियाँ भी हैं—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः', 'समं पश्यन् हि सर्वत्र' इत्यादि।

युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। जैसे—

सर्पान्कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥

(महा० शा० २०१। १६)

'सर्प, कुश, कण्टक, जलाशयको जानकर मनुष्य उनसे बच जाते हैं और बिना जाने कई उसमें गिर जाते हैं। ज्ञानकी इस विशेषताको देखो।'

इन प्रमाणोंसे यही ज्ञात होता है कि देहादिमें आत्मबुद्धि करनेवाला अज्ञानी राग-द्वेषादिसे प्रेरित होकर धर्माधर्मरूप कर्म करता है और उन कर्मोंके फल भोगनेके लिये जन्म लेता है। इस प्रकार पुनः कर्म, पुनः जन्म—इस जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा रहता है—'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'। और देहादिसे भिन्न आत्माका साक्षात् करनेवाले पुरुषोंके राग-द्वेषादि निवृत्त हो जाते हैं, राग-द्वेषादि निवृत्त होनेसे वे मुक्त हो जाते हैं। इस श्रुति-स्मृति और युक्ति-सिद्ध बातमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता।

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तवमें ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है, वह अविद्याकृत उपाधिके कारण संसारीके समान प्रतीत होता है। जैसे जीवको देहमें आत्मबुद्धि, जैसे स्थाणुमें

पुरुष-बुद्धि—यह सब अविद्याकृत ही है। विशेष जानना हो तो भाष्य देखना चाहिये ॥ २ ॥

'इदं शरीरं' इस श्लोकसे उपदिष्ट क्षेत्राध्यायके अर्थको संक्षेपसे आगेके श्लोक 'तत्क्षेत्रं' से कहा जाता है। विस्तार वर्णन करनेके लिये पहले संक्षेप वर्णन करना उचित होता है—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त क्षेत्र जैसा है एवं जिस विकारवाला है तथा क्षेत्रज्ञ जिस प्रभाववाला है वह संक्षेपसें मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञका यथार्थ स्वरूप वर्णन करनेके लिये तथा श्रोताकी बुद्धिमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी स्तुति करते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वसिष्ठादि ऋषियों एवं ऋग्वेदादि श्रुति-वाक्योंद्वारा तथा संशयरहित निश्चित ज्ञान उत्पन्न करनेवाले युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंसे भी वर्णन किया गया है ॥ ४ ॥

स्तुति सुनकर सन्मुख हुए अर्जुनसे कहते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

पांच सूक्ष्मभूत एवं भूतोंके कारण अहंकार और निश्चयात्मिका बुद्धि एवं अव्यक्त प्रकृति और मनसहित एकादश इन्द्रियाँ एवं

इन्द्रियगोचर पाँच शब्दादि विषय—इन सबको सांख्यमतावलम्बी चौबीस तत्त्व कहते हैं ॥ ५ ॥

वैशेषिक इच्छा आदिको आत्माके धर्म मानते हैं; किन्तु वे सब धर्म भी क्षेत्रके हैं, आत्माके नहीं—यह भगवान् कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा—सुखके हेतुभूत पदार्थोंको चाहना—यह अन्तःकरणका धर्म है, द्वेष—प्रतिकूल पदार्थोंमें द्वेष, सुख-दुःख, एवं संघात—देह-इन्द्रियादिका समूह, चेतना—इस देह-इन्द्रियादिके समूहमें, अग्निके सम्बन्धसे तप्त लौहपिण्डके समान आत्मचैतन्यके आभास रूप रससे व्याप्त अन्तःकरणकी वृत्ति और धृति—इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-प्राप्तिसे व्याकुल हुए देह-इन्द्रियादि जिससे धारण किये जाते हैं; यह सभी ज्ञेय होनेसे क्षेत्र ही है। यह विकारसहित क्षेत्रका स्वरूप वर्णन किया गया है ॥ ६ ॥

अब आगे कहे जानेवाले जिस क्षेत्रज्ञको प्रभावसहित जाननेसे अमृत होता है उसको जाननेका साधन कहते हैं, जिस साधनसे युक्त होनेपर उस ज्ञेयको जाननेके योग्य अधिकारी बन जाता है एवं जिस साधनसे युक्त संन्यासी ज्ञाननिष्ठ कहलाता है और ज्ञानका साधन होनेसे इसका नाम भी ज्ञान ही है, उसको कहते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अमानित्व—बड़प्पनका अभाव, अदम्भित्व—अपने धर्मको प्रकट न करनेका स्वभाव, अहिंसा-प्राणियोंको कष्ट न देना, क्षमा—अपराध-सहन-शक्ति, आर्जव—सरलता, आचार्योपासन—गुरुकी

शुश्रूषा, शौच—बाह्य शरीरके मलको मिट्टी एवं जलसे और अन्तःकरणके राग-द्वेषादि मलको प्रतिपक्षभावनासे दूर करना, स्थैर्य—मोक्षमार्गमें निष्ठा होना, आत्मविनिग्रह—देहादि संघातको स्वाभाविक प्रवृत्तिसे रोककर सन्मार्गमें लगाना ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

और इन्द्रियोंके विषय शब्दादि भोगोंमें वैराग्य, एवं अहंकारका अभाव, तथा जन्म, मृत्यु, जरा, रोग और दुःख आदिमें दोष देखना। जैसे—जन्ममें गर्भवास एवं योनिद्वारा बाहर निकलनेकी पीड़ा और बाल्यावस्थाके कष्टरूप दोष देखना, मृत्युकालमें असह्य वेदनारूप दोष देखना, वृद्धावस्थामें बुद्धिके ह्रास और तिरस्काररूप दोष देखना, शिर-पीड़ा आदि व्याधियोंमें तथा आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःखोंमें दोष देखना। अभिप्राय यह है कि जन्म, मरण, जरा, व्याधि आदि सब दुःख ही हैं—यह देखना ॥८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

असक्ति—विषयोंमें प्रीतिका अभाव, अनभिष्वङ्ग—पुत्र, स्त्री, गृह आदिके सुख-दुःखमें आत्मभावनापूर्वक अपनेको सुखी-दुःखी न मानना, इष्टानिष्ट-प्राप्तिमें निरन्तर समचित्तता। ये सब ज्ञान कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

तथा मुझ परमात्मामें एकत्वरूप समाधियोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति—भगवान् वासुदेव ही सब कुछ है, उससे अन्य कुछ नहीं

है, वही हमारी परमगति है ऐसा समझकर निश्चित अविचल बुद्धिसे निरन्तर भजन करना—यह अव्यभिचारिणी भक्ति, विविक्त देश-सेवित्व—एकान्त और स्वभावसे पवित्र अथवा संस्कारके द्वारा पवित्र, दंश, मसक, सर्पादि जन्तुरहित देशको सेवन करना, जन-संसदि—विनयरहित संस्कारशून्य प्राकृत (विषयासक्त) जनोंके समुदायमें अरति—प्रीतिका नहीं होना—यह सभी ज्ञान है ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

आत्मादिविषयक ज्ञानका नाम है अध्यात्मज्ञान, इस ज्ञानमें नित्य स्थिति, सातवें श्लोकसे लेकर ग्यारहवें श्लोकतक कहे गये अमानित्वादि बीस साधनोंकी परिपक्व भावनासे उत्पन्न होनेवाले तत्त्वज्ञानके अर्थ—संसारकी उपरतिरूप मोक्षकी आलोचना करना—ये सब ज्ञानके साधन होनेसे इनका नाम भी ज्ञान है। इन उपर्युक्त ज्ञान-साधनोंके विपरीत जो मानित्व, दम्भित्व, हिंसा आदि अवगुणका समुदाय है वह संसारमें प्रवृत्त करानेवाला होनेसे अज्ञान है । अतः उसका त्याग करना चाहिये ॥ ११ ॥

उपर्युक्त ज्ञानसे जानने योग्य क्या है ? इसके सम्बन्धमें भगवान् कहते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जानने योग्य वस्तुको कहूँगा, जिसको जानकर अमृत—अमरभावको प्राप्त होता है। वह ज्ञेय परब्रह्म अनादिमत् है। जिसका आदि हो उसको आदिमत् कहते हैं, वह पर ब्रह्म आदिमत् नहीं है इसलिये वह अनादिमत् है। उसको न सत् कहा जा सकता हैं और न असत् ही कहा जा सकता है।

प्र०—ऊपर बड़े गम्भीर शब्दसे कहा गया कि 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' 'ज्ञेय वस्तुको मैं कहूँगा', फिर यह कहना कि 'वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है'—यह कथन तो अनुरूप नहीं है ? तथा जो वस्तु अस्ति शब्दसे नहीं कही जाती वह है ही नहीं, यदि ज्ञेय है और अस्ति शब्दसे नहीं कहा जा सकता तो यह कहना परस्परविरुद्ध ही है ?

उ०—भगवान्‌के वचन प्रतिज्ञाके अनुरूप ही हैं, क्योंकि सभी उपनिषदोंमें ज्ञेय ब्रह्मको 'नेति नेति, अस्थूलमनणु' स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं इस प्रकार विशेषणोंके प्रतिषेधके द्वारा ही लक्ष्य कराया गया है, अंगुल्या निर्देश नहीं किया गया है। तथा ब्रह्म नहीं है यह बात नहीं है बल्कि वह अवश्य है; क्योंकि वह 'नहीं है' इस ज्ञानका भी विषय नहीं है।

दूसरी बात कही गयी कि जो अस्ति शब्दसे नहीं कहा जाता वह ज्ञेय है ही नहीं—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञेय ब्रह्म इन्द्रियोंसे अगोचर होनेके कारण अस्ति-नास्ति दोनों प्रकारके ही ज्ञानोंसे अनुगत प्रतीतिका विषय नहीं है। अतः श्रुति भी इसी प्रकार तत्त्वका लक्ष्य करती है—'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० उ० १। ३) अर्थात् 'ब्रह्म जाने हुए और न जाने हुएसे भी अन्य है।'

युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है कि ब्रह्म सत्-असत् आदि शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सभी शब्द जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्धद्वारा ही अर्थकी प्रतीति कराते हैं। ब्रह्ममें जाति नहीं है, वह निर्गुण होनेसे गुणवान् नहीं है, अक्रिय होनेसे क्रियावान् नहीं है 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे० उ० ६। १९)। एवं एक, अद्वितीय, इन्द्रियोंका अविषय होनेके कारण 'ब्रह्म' किसी-

का सम्बन्धी भी नहीं है। अतः सत् एवं असत् आदि शब्दोंसे ब्रह्म नहीं कहा जा सकता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २।४।९) इत्यादि श्रुति-वाक्योंसे भी यही बात सिद्ध होती है॥ १२॥

ज्ञेय ब्रह्म सत् शब्दके द्वारा होनेवाली प्रतीतिका विषय नहीं है इससे उसके अभावकी शंका हो सकती है, उस शंकाकी निवृत्तिके लिये समस्त प्राणियोंकी इन्द्रियादि उपाधिद्वारा उस ज्ञेयके अस्तित्व-का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

वह ज्ञेय (ब्रह्म) सब ओर हाथ-पैरवाला है, सब ओर नेत्र, शिर और मुखवाला है और सब ओर श्रवणेन्द्रिय (कान) वाला है एवं इस लोकमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त होकर स्थित है।

क्षेत्ररूप उपाधिके कारण ही वह ज्ञेय क्षेत्रज्ञ कहलाता है और सब प्राणियोंकी इन्द्रियादि उपाधियोंके द्वारा ही क्षेत्रज्ञका अस्तित्व प्रकट होता है, किंतु वास्तवमें ये क्षेत्ररूप उपाधियोंके भेद क्षेत्रज्ञमें मिथ्या ही हैं, अतः क्षेत्रके हस्त-पादादि समस्त भेदोंको हटाकर ज्ञेयका स्वरूप न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है—यह कहना ठीक ही है।

ज्ञेयका अस्तित्व समझानेके लिये सम्प्रदाय-परम्पराको जानने-वाले भी यही कहते हैं कि—'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' 'अध्यारोप और अपवादके द्वारा प्रपञ्चरहित पर-मात्माका वर्णन किया जाता है।

सब शरीरोंके अङ्गरूपसे दीखनेवाली हस्त-पाद आदि इन्द्रियाँ

ज्ञेय-शक्तिकी सत्तासे ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ हो रही हैं अतः ये सब ज्ञेयकी सत्ताके चिह्न होनेके कारण उपचारसे ज्ञेयके धर्म कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

उपाधिभूत हस्त-पाद आदि इन्द्रियोंके अध्यारोपसे ज्ञेय उपाधिवाला है—ऐसी शंकाका निवारण करनेके लिये कहते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

वह ज्ञेय समस्त इन्द्रियोंके गुणोंसे ही आभासित (प्रतीत) होता है । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे बाह्य ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं अन्तःकरण—मन-बुद्धि आदि सबको ग्रहण कर लेना चाहिये, इन इन्द्रियोंकी क्रियासे वह ज्ञेय क्रियावान्-सा प्रतीत होता है । श्रुति भी यही कहती है— 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० उ० ४ । ३ । ७) । ज्ञेयको ही क्रियावान् क्यों नहीं मान लेते ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'—ज्ञेय सब इन्द्रियोंसे रहित है अर्थात् यथार्थमें व्यापारसे रहित है । इसी अर्थमें मन्त्र भी है—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० उ० ३ । १९) 'असक्तम्'—सङ्गरहित है । असंग होनेपर भी वह ज्ञेय सबको धारण करनेवाला है—'सर्वभृत् च' । वह ज्ञेय निर्गुण—सत्त्व, रज और तमोगुणसे अतीत है तथा गुणातीत होनेपर भी सब गुणोंका शब्दादिद्वारा भोक्ता भी है ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अविद्याकल्पित शरीरको त्वचापर्यन्त अवधि मानकर यह बत-

लाते हैं कि बाहर एवं भीतर भी वही ज्ञेय व्याप्त है। बाहर-भीतर व्याप्त कहनेसे मध्यमें नहीं है—इस शंकाकी निवृत्ति करते हुए कहते हैं—'अचरं चरमेव च'—चर-अचर भी वही है। जब सबमें है तब सबसे जाना क्यों नहीं जाता? 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्'—अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अज्ञानियोंके अविज्ञेय है; आत्मरूपसे ज्ञानियोंके तो ज्ञेय ही है, 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० उ० ७। २५। २), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (बृ० उ० २। ५। १)। अज्ञानियोंके वह दूर है अर्थात् करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं प्राप्त होता, और ज्ञानियोंका तो आत्मा ही है, अतः समीप ही है॥ १५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१६॥

ज्ञेय प्रतिदेहमें आकाशके समान अविभक्त—एक है, तो भी प्रत्येक देहमें विभक्तके तुल्य प्रतीत होता है। वह ज्ञेय सब भूतोंको धारण करता है। प्रलयमें सबका संहार कर लेता है और उत्पत्ति-कालमें सबको उत्पन्न करता है॥ १६॥

सर्वत्र विद्यमान होते हुए प्रत्यक्ष नहीं होता तो क्या वह ज्ञेय अन्धकार है? नहीं। तो क्या है?—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१७॥

ज्ञेय परमात्मा आदित्यादि ज्योतियोंका भी ज्योति है—'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वे० उ० ६। १४) 'जिस तेजसे प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है।' 'उसीके प्रकाशसे यह सबकुछ प्रकाशित होता है' इत्यादि। उसे अज्ञानसे पर कहा गया है। वह ज्ञान—अमानित्वादि, ज्ञेय—तत्त्व और ज्ञानसे

गम्य है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य—इन तीनों रूपोंसे सब प्राणियोंमें वही प्रकाशित हो रहा है ॥ १७ ॥

यथोक्त विषयोंका उपसंहार करनेके लिये कहते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

'महाभूतों'से आरम्भ करके धृतिपर्यन्त सविकार क्षेत्रका स्वरूप, 'अमानित्व' आदिसे लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन' पर्यन्त ज्ञानका स्वरूप और 'ज्ञेयं यत्तत्' से लेकर 'तमसः परमुच्यते' यहांतक ज्ञेयका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त सम्यक् ज्ञानको जानकर मुझ परमात्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

सातवें अध्यायमें परा एवं अपरा दो प्रकृतियाँ वर्णन की गयीं तथा यह भी कहा गया कि ये दो दोनों प्रकृतियाँ समस्त प्राणियोंकी कारण हैं। अब यह बताया जाता है कि ये दोनों क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ (अपरा-परा) सब भूतोंके कैसे कारण हैं ?—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष—ये दोनों ईश्वरकी प्रकृतियाँ हैं। इनको अनादि समझो। ईश्वर नित्य है, अतः उनको प्रकृतियाँ भी नित्य ही हैं—यही ईश्वरकी ईश्वरता है। विकारों—देह-इन्द्रियादिकोंको और सुख-दुःख-मोह आदिके रूपमें परिणत गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझो ॥ १९ ॥

कौन-कौन विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं ?—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्यं--शरीर, और शरीरमें स्थित मन-बुद्धि-अहंकार और दश इन्द्रियाँ--ये तेरह करण हैं; इनका हेतु प्रकृति है अर्थात् कार्यं-करणका आरम्भ करनेवाली प्रकृति है। पुरुष किस प्रकार संसार-का कारण है, सो कहते हैं। पुरुष, जीव, क्षेत्रज्ञ, भोक्ता--ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं; वह पुरुष (जीव) सुख-दुःख आदि उपभोग करनेमें हेतु कहा गया है। यहाँ प्रकृतिके कार्यं-करणविषयक कर्तापन और पुरुषके सुख-दुःखविषयक भोक्तापन—इन दोनोंको संसारका कारण कहा गया है। संसार क्या है ? सुख-दुःखका भोग ही संसार है और पुरुषमें जो भोक्तृत्व है, यही उसका संसारित्व है ॥ २० ॥

सुख-दुखोंका भोक्तृत्व ही पुरुषका संसारित्व है, सो यह संसार पुरुषमें किस कारण है ?—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

कार्यं—शरीर, करण—इन्द्रियोंके रूपमें परिणत अविद्यारूपा प्रकृतिमें स्थित पुरुष प्रकृतिको अपना स्वरूप मानकर प्रकृतिसे उत्पन्न सुख-दुःख और मोहरूपसे प्रकट गुणोंका भोक्ता है। यद्यपि जन्मका कारण अविद्या है तो भी सुख-दुःख-मोहरूप गुणोंके भोगमें जो संग—आसक्ति (तद्रूपता) है, वही सदसद् योनियोंमें जन्मका कारण है, 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति' (बृ० उ० ४।४।५) यह श्रुति भी है। तात्पर्य यह है कि अविद्यारूपा प्रकृतिमें स्थिति और गुणोंका संग (आसक्ति)—ये दोनों ही संसारके

कारण हैं, अतः गीतामें इन दोनोंकी निवृत्तिका साधन संन्यासके सहित ज्ञान और वैराग्य कहा गया है। प्रकृति—देह-इन्द्रियादिमें कर्तापन और सुख-दुःखादिमें भोक्तापन—ये दोनों आत्मामें अनात्म धर्मका अध्यारोप है, इस अनात्मधर्म कर्तृत्व—भोक्तृत्वकी निवृत्ति होनेसे ही ज्ञेयको जानकर अमृतत्वकी प्राप्ति होती है—'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' इत्यादि कहा गया है ॥ २१ ॥

पुनः उसीका साक्षात् निर्देश किया जाता है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

स्वयं क्रिया न करते हुए भी समीपमें स्थित होकर देखनेवालेका नाम उपद्रष्टा है। यह आत्मा भी कार्य—देह, करण—इन्द्रियोंके व्यापारको स्वयं न करता हुआ उनसे विलक्षण उनके व्यापारको देखनेवाला होनेसे इसका नाम उपद्रष्टा है। अथवा देह, चक्षु, मन, बुद्धि और आत्मा—ये सभी द्रष्टा हैं, उनमें बाह्य द्रष्टा शरीर है, उससे आरम्भ करके सबकी अपेक्षा अन्तरतम, जिसके भीतर दूसरा नहीं है, वह आत्मा समीप होकर सबके व्यापारको देखता है, अतः इस आत्माका नाम उपद्रष्टा है। और यह आत्मा अनुमन्ता है अर्थात् क्रियामें लगे हुए इन्द्रियादिकी क्रियाओंका अनुमोदन करता है। यह आत्मा भर्ता है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका स्वरूप धारण करना ही भरण है, इसलिये भर्ता है। और भोक्ता भी है, अर्थात् नित्य आत्मचैतन्यस्वरूपसे समस्त विषयोंको पृथक्-पृथक् रूपसे भोगता है, अतः आत्मा भोक्ता कहलाता है। यथा—

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः ।

भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलंकृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥
(भाग० २।४।२३)

वह आत्मा महेश्वर है अर्थात् स्वतन्त्र तथा सबका आत्मा और महान् होनेसे महेश्वर है। और वह आत्मा परमात्मा भी कहलाता है। देहसे बुद्धिपर्यन्त सबसे श्रेष्ठ होनेसे परमात्मा कहलाता है—'सोऽन्तः परमात्मा' इति श्रुतिः। वह 'अव्यक्तात् पुरुषः परः' पर आत्मा इसी देहमें है। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' से आगे कहा जानेवाला एवं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादिसे पहले वर्णित आत्मस्वरूपका यहाँ उपसंहार किया गया ॥ २२ ॥

आत्मज्ञानका फल—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो पुरुष यथोक्त लक्षणवाले आत्माको साक्षात् आत्मभावसे कि 'यही मैं हूँ'—इस प्रकार जानता है और विद्याके द्वारा अविद्यारूप गुणोंके सहित प्रकृतिको अभाव (अनित्य) जानता है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी पुनः दूसरे शरीरमें जन्म नहीं लेता है। इस श्लोकमें अपि शब्दका यह अर्थ है कि अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल चलनेवाला यदि पुनः उत्पन्न नहीं होता है तो इसमें कहना ही क्या है।

कुछ लोगोंका कहना है कि यद्यपि ज्ञान उत्पन्न होनेपर पुनः जन्म नहीं होता, तो भी ज्ञान होनेके पहले किये हुए, और ज्ञान होनेके पश्चात् होनेवाले तथा अनेक जन्मोंके संचित कर्मोंके फल

भोगनेके लिये तीन जन्म तो होने ही चाहिये; क्योंकि कर्म तो सब समान हैं, जैसे प्रारब्ध कर्म भोगे विना शान्त नहीं होता, वैसे संचित कर्म और ज्ञानोत्तरकाल-भावी कर्म भी भोगके विना नष्ट नहीं होगा।

इसका उत्तर यह है कि ज्ञानीके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।

'क्षीयन्ते सर्वकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'

(मु० उ० २।२।८)

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९)

'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० उ० ६।१४।२)

'इषीकातूलवत् सर्वाणि कर्माणि प्रदूयन्ते' (छा० उ० ५।२४।३)

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः॥

इन सब प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी प्रारब्ध शरीरके गिरनेपर पुनः शरीर नहीं धारण करता अर्थात् जन्म नहीं लेता है॥ २३॥

आत्मदर्शनमें ध्यानादि साधन—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥

कई ध्यान—विषयोंसे इन्द्रियोंको लौटाकर एकाग्र मनसे बुद्धिमें आत्मा—प्रत्यक्‌चेतनको देखते हैं। कई सांख्य—'मैं इन सत्वादि तीनों गुणोंका द्रष्टा हूँ एवं इन गुणोंसे होनेवाले व्यापारका भी द्रष्टा हूँ तथा इन गुणोंसे भिन्न विलक्षण नित्य चेतन आत्मा हूँ'—इस प्रकारके चिन्तनका नाम सांख्य है, ऐसे सांख्ययोगसे आत्माको देखते हैं। कई कर्मयोग—ईश्वरार्पणबुद्धि

से किये हुए वर्णाश्रम-कर्मका नाम कर्मयोग है, उस कर्मयोगसे आत्माको देखते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

कई यथोक्त साधनोंको न जानकर भी आचार्योंसे सुनकर श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं, वे साधक श्रवण मात्रमें परायण होकर मृत्यु—संसारसागरको पार कर जाते हैं ॥ २५ ॥

ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञान मोक्षका साधन है—यह 'यज्ज्ञात्वामृत-मश्नुते' से कहा गया। वह किस कारण मोक्षका साधन है, उस कारणका वर्णन करते हैं—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरतर्षभ ! जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम याने अचर-चर वस्तु उत्पन्न होती है, वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न होती है—ऐसा जानो ।

यहाँ यह शंका होती है कि क्षेत्रज्ञ आकाशके समान अवयव-रहित है, उसका क्षेत्रके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इसका समाधान यह है कि

"क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विषयविषयिणोर्भिन्नस्वभावयोरितरेतरतद्-धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपविवेकाभावनि-बन्धनो रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावादध्यारोपित-सर्परजतादिसंयोगवत् ।"

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों विषय और विषयी एवं भिन्न स्व-भाववाले भी हैं, तथापि इनका अन्यमें अन्य धर्मोंका अध्यासरूप संसर्ग—संयोग है, जैसे रस्सीमें सर्प या सीपमें रजत। इनके यथार्थ

स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर अध्यस्तकी सत्ता नहीं रह जाती, केवल अधिष्ठान शेष रहता है। शास्त्रोक्त मार्गसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-के लक्षणोंद्वारा क्षेत्रसे भिन्न क्षेत्रज्ञका भेद जान लेनेपर अर्थात् 'न सत्तन्नासदुच्यते' इस वाक्यके अनुसार क्षेत्रज्ञको सत् और समस्त उपाधिको मिथ्या निश्चय करके क्षेत्रज्ञको ब्रह्मस्वरूप जान लेनेपर उपाधि नष्ट हो जाती है, तब जीव मुक्त हो जाता है॥ २६॥

'न स भूयोऽभिजायते' इससे सम्यक् दर्शनका फल अविद्या-निवृत्तिपूर्वक पुनर्जन्म न होना कहा गया है। एवं अज्ञानसे क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञके संयोगको जन्मका कारण कहा गया है। अब पुनः अविद्या-निवृत्तिका उपाय दूसरे शब्दोंमें कहा जाता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो समस्त प्राणियोंमें समभावसे स्थित (व्याप्त) परमात्माको देखता है और सब भूतोंका विनाश होते हुए जो परमेश्वरको अवि-नाशी देखता है, वही यथार्थ देखता है॥ २७॥

यथोक्त यथार्थ ज्ञानका फल बतलाकर उसकी स्तुति करते हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

समभावसे सब भूतोंमें स्थित परमेश्वरको देखनेवाला अपने आपकी हिंसा नहीं करता, इसलिये वह परमगति—मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि अपनी हिंसा तो कोई भी नहीं करता, फिर यह कैसे कहा गया कि जो अपनी हिंसा नहीं करता?

इसका उत्तर यह है कि आत्माके यथार्थ स्वरूपको न जानना ही आत्माकी हिंसा करना है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ई० वा० ३) ॥ २८ ॥

ऊपर कहा गया कि सब भूतोंमें ईश्वरको समभावसे जो देखता है वह अपनेसे अपना नाश नहीं करता है, किन्तु यह कहना युक्ति-संगत नहीं है; क्योंकि अपने गुण और कर्मोंकी विलक्षणतासे भिन्न हुए जीवोंमें समभावसे देखना नहीं बन सकता है? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' उक्तिके अनुसार प्रकृति—त्रिगुणात्मिका मायासे ही शरीर, मन और वाणी आदिके समस्त कर्म होते हैं और आत्मा समस्त उपाधियोंसे रहित अकर्ता है—ऐसा जो देखता है वही परमार्थदर्शी है ॥ २९ ॥

यथार्थ ज्ञानकी पुनः शब्दान्तरसे व्याख्या करते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

ज्ञानी जिस कालमें भूतोंके पृथक्-पृथक् भावोंको आचार्यके उपदेशसे एक आत्मामें ही स्थित देखता है—'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० उ० ७।२५।२) 'यह सब आत्मा ही है'। तथा आत्माका ही सब विस्तार है—

'आत्मतः प्राण आत्मतः आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नम्' (छा० उ० ७ । २६ । १)।

'आत्मासे प्राण, आत्मासे आशा, आत्मासे ही स्मर, आत्मासे आकाश, आत्मासे तेज, आत्मासे जल, आत्मासे उत्पत्ति और लय, आत्मासे अन्न—इत्यादि सारा विस्तार आत्मासे ही हुआ है'—ऐसा देखनेवाला ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

एक ही आत्मा सब देहोंका आत्मा है—ऐसा माननेपर देहके दोषोंको आत्मामें भी मानना होगा ? इस शंकाका समाधान करते हुए बोले—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौन्तेय ! जिसका कोई आदि—कारण न हो, वह अनादि है और अनादिके भावका नाम अनादित्व है । वह परमात्मा अनादि होनेके कारण और निर्गुण होनेके कारण भी अव्यय है इसलिये शरीरमें रहता हुआ भी कुछ नहीं करता है और न कर्मफलोंसे लिप्त ही होता है । यहाँ 'शरीरस्थः' का तात्पर्य यह है कि इसी शरीरमें आत्माकी उपलब्धि—प्राप्ति होती है । यथार्थमें तो वह असङ्ग है—'असङ्गोऽयं पुरुषः' यह श्रुति है ॥ ३१ ॥

न कर्ता है न लिप्त होता है, इसपर दृष्टान्त—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे सर्वव्यापी भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं

होता, वैसे ही अतिसूक्ष्म आत्मा देहमें सर्वत्र स्थित हुआ भी लिप्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

और जैसे एक ही सूर्य समस्त लोकोंको प्रकाशित करता है, वैसे ही विकारसहित समस्त क्षेत्रको एक ही क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ)—परमात्मा प्रकाशित करता है।

यहाँ आत्मामें सूर्यका दृष्टान्त दोनों प्रयोजन सिद्ध करता है; जैसे एक सूर्य सबको प्रकाशित भी करता है और अलिप्त है, वैसे ही आत्मा सबको प्रकाशित भी करता हे और लिप्त भी नहीं होता है ॥ ३३ ॥

समस्त अध्यायका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

आचार्यके उपदेशसे प्राप्त ज्ञानरूप चक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर (विभाग) अर्थात् वैलक्षण्यको और भूतोंकी प्रकृतिके अभावको जो जान लेते हैं, अर्थात् क्षेत्रज्ञ—परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर कल्पित भूतप्रकृति—क्षेत्रका अत्यन्त अभाव देखते हैं, वे परागति याने ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

जो कुछ भी उत्पन्न होनेवाली वस्तु है, वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न होती है--यह कहा गया। वह किस प्रकारसे उत्पन्न होती है--यह दिखानेके लिये यह चतुर्दश अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जगत्के कारण हैं; किन्तु सांख्यमतानुसार स्वतन्त्र कारण नहीं हैं, ईश्वराधीन होकर ही कारण हैं--यह दिखानेके लिये यह अध्याय आरम्भ किया जाता है। तथा प्रकृतिमें स्थिति और विषयोंमें आसक्ति ही संसारका कारण है, अतः किस गुणमें किस प्रकार आसक्ति होती है? गुण जीवको कैसे बाँधते हैं और जीवका बन्धनसे छुटकारा कैसे होता है एवं मुक्तका लक्षण क्या है—ये सब विषय दिखलानेके लिये भी यह अध्याय आरम्भ किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—पहलेके सब अध्यायोंमें कहे हुए उस समस्त ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञानको पुनः कहूँगा, जो मुक्तिरूप उत्तम फलयुक्त होनेसे उत्तम ज्ञान है, जिस ज्ञानको जानकर मननशील संन्यासी देह-बन्धनसे छूटकर मोक्षनामक परा सिद्धिको प्राप्त हुए हैं॥ १॥

इस सिद्धिकी ऐकान्तिकता (नित्यता) दिखाते हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

यथोक्त ज्ञानके साधनोंका अनुष्ठान करके मुझ परमेश्वरमें एकताको प्राप्त हुए पुरुष उत्पत्तिकालमें उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्यथा नहीं प्राप्त करते। यह फल-वर्णन ज्ञानकी स्तुति है। यहाँ 'साधर्म्य'का अर्थ समानता प्राप्त करना नहीं है, किन्तु ऐक्य प्राप्त करना है; क्योंकि यहाँ गीतामें क्षेत्रज्ञ और ईश्वरमें भेद नहीं माना गया है ॥ २ ॥

इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगको भूतोंका कारण बतलाते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! यह महद्ब्रह्म—मेरी त्रिगुणमयी माया (प्रकृति) समस्त भूतोंकी कारण है, सब कार्योंसे बड़ी और सब भूतोंको धारण करनेवाली होनेसे प्रकृतिको ही महद्ब्रह्म कहा गया है, उस महद्ब्रह्मरूप योनिमें मैं—क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ-प्रकृतिरूप शक्तिमान् ईश्वर बीजरूप गर्भ स्थापित करता हूँ, अर्थात्—अविद्या, काम, कर्म और उपाधिके अनुविधायी क्षेत्रज्ञ-स्वरूप हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति जिससे होती है वह बीज स्थापित करता हूँ। इस हिरण्यगर्भसे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है, यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कौन्तेय ! देव, पितर, मनुष्य और पशु आदि जो मूर्तियाँ—भिन्न-भिन्न अवयववाली व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सभीको महद्ब्रह्मरूप प्रकृति गर्भ धारण करनेवाली योनि है और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

वे गुण कितने हैं और कैसे बाँधते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं । यहाँ 'गुण' पारिभाषिक शब्द है । ये रूप-रसादि गुणोंके समान द्रव्यके आश्रय नहीं रहते । ये अविद्यात्मक सत्वादि गुण सदा क्षेत्रज्ञके अधीन होकर अपना स्वरूप प्रकट करनेमें समर्थ होते हैं । अतः 'बाँधते हैं' ऐसा कहा जाता है । हे महाबाहो ! ये गुण इस शरीरमें शरीर धारण करनेवाले अविनाशी देहीको बाँधते हुए-से प्रतीत होते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

इनमें सत्वगुण निर्मल स्फटिकके समान प्रकाशक और अनामय—उपद्रवरहित है, तो भी हे अनघ—निष्पाप ! सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे बाँधता है । यहाँ यह जानना चाहिये कि विषयरूप सुखका विषयी आत्माके साथ 'मैं सुखी हूँ' यह मिथ्या सम्बन्ध होना ही बाँधना है, इसीका नाम अविद्या है । यह अविद्या ही माया शब्दसे कही जाती है । यह बड़ी दुर्घट है । यह स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी है—

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्रापि तथैव स्यादसंगस्यान्यथा कृतेः ॥
(पं० द० ६ । ३२)

'यह माया चेतनके बिना अपना स्वरूप नहीं प्रकट करती इसलिये तो परतन्त्र है और असङ्ग आत्माको विषयमें बाँध देती है अतः स्वतन्त्र भी है ।' गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—'मम माया दुरत्यया' इत्यादि ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तृष्णा—अभिलाषा और सङ्ग (आसक्ति)—स्नेहको उत्पन्न करनेके कारण रजोगुणको रागात्मक जानो। हे कौन्तेय! यह रजोगुण देही—आत्माको कर्मासक्तिमें बांधता है अर्थात् कर्ममें लगा देता है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भारत! समस्त देहधारियों—क्षेत्रज्ञोंको मोहमें डालनेवाले इस तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न जानो। यह तमोगुण जीवोंको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बांधता है ॥ ८ ॥

पुनः गुणोंके व्यापारको संक्षेपसे कहते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत! सत्वगुण सुखमें एवं रजोगुण कर्ममें जोड़ता है, और सत्वगुणसे उत्पन्न विवेक-ज्ञानको तम अपने आवरणात्मक स्वरूपसे आच्छादित करके प्रमादमें लगाता है—अपने कर्तव्यसे विचलित कर देता है ॥ ९ ॥

ये सब गुण अपने-अपने कार्य कब करते हैं ?—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत! जब रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्वगुण

बढ़ता है, तब अपने कार्य सुख और ज्ञानकी वृद्धि करता है। सत्वगुण और तमोगुणको दबाकर जब रजोगुण बढ़ता है, तब अपने कार्य कर्ममें लगा देता है। और जब सत्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है, तब ज्ञान—ववेकको ढककर अपने कार्य प्रमाद-आलस्यादिमें जीवको जोड़ देता है ॥ १० ॥

गुणोंके बढ़नेमें क्या चिह्न होते हैं ?—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

आत्माकी प्राप्तिके द्वारभूत श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें जब प्रकाश हो—अर्थात् बुद्धिवृत्तिका नाम प्रकाश है और यही ज्ञान है। भाव यह कि जब इस देहमें स्थित इन्द्रियद्वारोंमें प्रकाश उत्पन्न हो—तब इस ज्ञानरूप प्रकाशसे सत्वगुण बढ़ा है; यह जानना चाहिये ॥ ११ ॥

रजोगुण बढ़नेका चिह्न—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! लोभ, प्रवृत्ति—चेष्टा, कर्मोंका आरम्भ, अशम—अशान्ति तथा हर्ष-रागादिमें प्रवृत्ति और सामान्य वस्तुओंमें तृष्णा बढ़नेपर रजोगुण बढ़ा है, यह जानना चाहिये ॥ १२ ॥

तमोगुणका चिह्न—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन ! अविवेक, अप्रवृत्ति, कर्तव्यमें प्रमाद और मोह—ये सब तमोगुण बढ़नेके चिह्न हैं, यह जानना चाहिये ॥ १३ ॥

मरणकालमें गुणोंके बढ़नेका फल—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

सत्वगुण बढ़नेपर देहधारी-जीव जब मृत्यु प्राप्त करता है, तब उत्तम तत्त्व—महत्तत्त्वादि जाननेवालोंके निर्मल—दिव्य लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण बढ़नेपर मृत्यु होनेसे कर्मासक्तियुक्त मनुष्योंमें उत्पन्न होता है । और तमोगुण बढ़नेपर मृत्यु प्राप्त करनेवाला पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

उपर्युक्त श्लोकोंका संक्षेपमें सार-अर्थ—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सात्त्विक कर्मों—पुण्यकर्मोंका फल सात्त्विक और निर्मल कहा गया है तथा रजोगुणका फल दुःख और तामसकर्म—पापका फल अज्ञान कहा गया है ॥ १६ ॥

गुणोंसे क्या होता हे ?—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

बढ़े हुए सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है एवं रजोगुण बढ़नेसे लोभ होता है और तमोगुण बढ़नेपर प्रमाद, मोह और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुणमें स्थित प्राणी ऊर्ध्व—देवादिलोकमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मध्य—मनुष्यलोकमें और जघन्यगुण—तमोगुणके कार्य निद्रा-आलस्यादिमें स्थित प्राणी पशु-पक्षी आदि नीची योनिमें जाते हैं।

गुणोंके बढ़नेके दश हेतु कहे गये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥
(भा० ११।१३।४२)

'शास्त्र, जल, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—इन दशोंमें सात्त्विक, राजस और तामस जिसका सेवन किया जायगा, वही गुण बढ़ेगा।'

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्॥
(भा० ११।१३।५)

'उपर्युक्त दशोंमें, ज्ञानवृद्ध लोग जिसकी प्रशंसा करते हैं, वह सात्त्विक एवं जिसकी निन्दा करते हैं, वह तामस तथा जिसकी उपेक्षा करते हैं, वह राजस है' ॥ १८॥

प्रकृतिमें स्थित पुरुषकी मिथ्या ज्ञानसे प्रकृतिके गुणोंमें आसक्ति होना ही जन्म-मरणका हेतु कहा गया है। इन्हीं गुणोंके भेदसे सदसद् योनियोंमें जीव अनादिकालसे भटक रहा है—इसको विस्तारसे कहा गया। अब यथार्थ ज्ञानसे मोक्ष कैसे होता है सो बतलाते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब द्रष्टा—जीव 'कार्य, करण और विषयाकारमें परिणत गुणोंसे अन्य कोई भी कर्ता नहीं है; सब कालमें, सब रूपमें स्थित गुण ही कर्मोंके कर्ता हैं, मैं गुणोंसे परे सबका साक्षी हूँ'—ऐसा जानता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ १९ ॥

कैसे प्राप्त करता है ?—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

यह देही—जीव जब देहकी उत्पत्तिके बीजभूत अविद्यात्मक इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन कर जाता है, तब इसी शरीरमें जीते हुए ही जन्म, मृत्यु, जरा आदि दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतत्वका अनुभव करता है ॥ २० ॥

जीते हुए ही अमृतत्व प्राप्त होता है—इसको सुनकर अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

हे प्रभो ! ऊपर कहे गये तीनों गुणोंसे पार हुए पुरुषोंके क्या लक्षण हैं एवं उनका आचार कैसा होता है और मनुष्य तीनों गुणोंसे पार कैसे हो सकता है ? ॥ २१ ॥

अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् गुणातीतका लक्षण और गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

'मुझको तमोगुण बढ़ गया इसलिये मैं मोहमें पड़ गया, रजोगुणसे मैं कर्ममें प्रवृत्त हो गया हूँ, एवं मुझमें सत्त्वगुणसे सुख प्राप्त होता है'—इस प्रकार साधारण व्यक्ति इन गुणोंमें राग-द्वेष करता है, किन्तु हे पाण्डव! गुणातीत, सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश एवं रजोगुणके कार्य प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्य मोहके उपलब्ध होनेपर न द्वेष करता है और न उनकी निवृत्ति होनेपर उनको चाहता ही है। यह लक्षण गुणातीत पुरुषका स्वसंवेद्य है, क्योंकि द्वेष और आकांक्षाको दूसरा नहीं जान सकता है ॥ २२ ॥

वह कैसा आचारवान् होता है सो सुनो—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

जैसे उदासीन पुरुष किसीका पक्ष नहीं लेता, वैसे ही गुणातीत गुणोंसे विचलित न होकर उदासीनवत् रहता है—उदासीन भावसे अपने गुणातीत होनेके उपायरूप मार्गमें स्थित रहता है। तथा गुण ही एकमें एक बर्त रहे हैं—ऐसा समझकर स्वरूपमें स्थित रहता है, उससे विचलित नहीं होता ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

तथा सुख-दुःखमें जो समान रहता है, अपने स्वरूपमें जो प्रसन्न है, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाव रखता है, प्रिय और अप्रियमें समान बर्तता है और अपनी निन्दा तथा स्तुतिको भी समान समझता है, वह बुद्धिमान् पुरुष गुणातीत है ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

एवं जो मानापमानमें तुल्य याने निर्विकार रहता है, शत्रु एवं मित्रके लिये समान भाव रखता है, तथा सर्वारम्भपरित्यागी— जो दृष्ट और अदृष्ट अर्थात् इस लोक एवं परलोक-विषयक फल देनेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, वह गुणातीत कहलाता है।

ये सब लक्षण मुमुक्षुके लिये अनुष्ठान करनेयोग्य हैं। जब ये सब स्थिर हो जाते हैं, तब ये ही स्वभाव बन जाते हैं ॥ २५ ॥

गुणातीत होनेका उपाय—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो सब भूतोंके हृदयमें स्थित मुझ नारायणको कभी व्यभिचरित नहीं होनेवाले भक्तियोगसे सेवन करता है, वह ऊपर कहे हुए गुणोंको उल्लङ्घन करके ब्रह्मप्राप्तिके योग्य हो जाता है ॥२६॥

ऐसा क्यों होता है ?—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

'प्रतितिष्ठति अस्मिन् इति प्रतिष्ठा'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार मैं प्रत्यगात्मा—अन्तरात्मा ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। ब्रह्म अमृत—

अविनाशी, अव्यय—निर्विकार, शाश्वत—नित्य, धर्मस्वरूप (ज्ञान-योगरूप धर्मसे प्राप्य) और ऐकान्तिक सुख—परमानन्दस्वरूप है, अमृतादिस्वरूप ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अन्तरात्मा ही है, क्योंकि सम्यक् ज्ञानसे वही परमात्मस्वरूपसे निश्चित होता है। यही बात ऊपरके श्लोकमें 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इससे कही गयी है।

जिस ईश्वर-शक्तिसे भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये ब्रह्म प्रवृत्त होता है, वह शक्ति मैं ब्रह्म ही हूँ, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्में भेद नहीं होता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

कर्मियोंका कर्मफल और ज्ञानियोंका ज्ञानफल मेरे अधीन हैं। इसलिये भक्तियोगसे जो मेरा सेवन करता है, वह मेरे प्रसादसे ज्ञान-प्राप्तिके क्रमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तो फिर सम्यक् आत्म-तत्त्वको जाननेवालोंके लिये तो कहना ही क्या है। किंतु विरक्त-को ही भगवत्तत्त्व जाननेका अधिकार है, अन्यको नहीं; इसलिये अर्जुनके न पूछनेपर भी वैराग्य प्राप्त करनेके लिये वृक्षके रूपकी कल्पना करके भगवान् संसारके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

कालसे भी सूक्ष्म, कारण, नित्य और महान् होनेसे और सबसे पर होनेसे अव्यक्त—माया शक्तिसे युक्त ब्रह्म ऊर्ध्वं कहा गया है। वही इस संसाररूप वृक्षका मूल है, इसलिये ऊर्ध्वमूल और नीचे शाखावाला यह संसाररूप वृक्ष है। महत्तत्त्व, अहंकार और तन्मात्रादि शाखाके समान नीचे हैं। यह ऊर्ध्वमूल और अधःशाखावाला संसाररूप अश्वत्थ (पीपलवृक्ष) 'न श्वः अपि स्थाता' कलतक भी न रहनेवाला है, अतः क्षणभङ्गुर है। और अनादि कालसे चला आ रहा है, इससे इसको अव्यय भी कहते हैं। और मायामय इस अश्वत्थ वृक्षके छन्द—ऋक्, साम और यजुर्वेद ही पत्तेके समान आच्छादन करनेवाले पत्ते हैं। जैसे वृक्षकी रक्षा करनेवाले पत्ते होते हैं, वैसे ही धर्म-अधर्म, इनके कारण और सुख-दुःखरूप फलकी रक्षा करनेवाले वेद हैं। ऊर्ध्वमूल और अधःशाखासे युक्त वेदरूप पत्तोंवाले इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्षके जाननेवाला वेदवित्—वेदको जाननेवाला कहा गया है।

पुराणोंमें भी इस वृक्षका वर्णन आया है—

अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः ।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति नित्यशः ॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
ततश्चात्मरतिं प्राप्य तस्मान्नावर्तते पुनः ॥

'अव्यक्त मूलसे उत्पन्न हुआ और उसीके अनुग्रहसे फैला हुआ, बुद्धिरूप प्रधान शाखावाला, इन्द्रियरूप कोटरोंवाला, महाभूतरूप शाखा प्रतिशाखाओंसे युक्त, विषयरूप पत्तोंवाला, धर्माधर्ममय

खिले हुए पुष्पोंवाला, सुख-दुःखरूप फलवाला, समस्त जीवोंका आश्रयभूत यह सनातन वृक्ष है। इसका नाम ब्रह्मवन भी है, इसीमें ब्रह्म नित्य विचरण करता है। इस ब्रह्मवृक्षका ज्ञानरूपी पैनी धारवाले खड्गसे समूल छेदन करके आत्मस्वरूप परमानन्दको प्राप्तकर मनुष्य फिर जन्म नहीं लेता।'

इस संसाररूप वृक्षका वर्णन श्रीरामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़े रोचक शब्दोंमें किया है—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध शाखा पंचविंश अनेक पर्ण सुमन घने॥
फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे॥

'इस संसारका मूल अव्यक्त है, यह अनादि है, इसके चार वल्कल त्वचाएं हैं—ऐसा वेद-शास्त्र कहते हैं। मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार अथवा जाग्रदादि चार अवस्थाएँ अथवा सत्ययुग आदि चार युग इसके त्वक् हैं। छः विकार—अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति अथवा काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, शोक आदि छः स्कन्ध हैं। पचीस तत्त्व ही जिसकी शाखा हैं। अनन्त वासनाएँ ही पत्ते हैं। संकल्प-विकल्प जिसके पुष्प हैं। पाप-पुण्यके परिणाम सुख-दुःख जिसके फल हैं। अविद्या माया बेल है। जिसमें नित्य नये पत्ते और फूल लगते रहते हैं। ऐसे संसारवृक्षको नमस्कार है।'॥ १॥

अब उस संसारवृक्षके अन्य अङ्गोंका वर्णन करते हैं—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

इस संसाररूपी वृक्षकी शाखाएँ मनुष्योंसे लेकर स्थावर-पर्यन्त नीचे और ब्रह्मलोकपर्यन्त ऊपर अपने-अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार फैली हुई हैं। वे शाखाएँ सत्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे बढ़नेवाली एवं शब्दादि विषयरूप कोंपलोंवाली हैं। कर्मफलरूप देहादि शाखा हैं और शब्दादि विषयरूप कोंपलोंके समान अंकुरित हैं।

कर्मानुसार वासनारूप मूल नीचे मनुष्यलोकमें फैला हुआ है अर्थात् देवलोकसे नीचे मनुष्यलोक है, और मनुष्योंको ही पुण्य-पापरूप कर्मका अनुबन्ध है इसलिये अवान्तर मूल नीचे मनुष्य-लोकमें फैला हुआ है—ऐसा कहते हैं॥ २॥

जैसा संसारवृक्षका वर्णन किया गया—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

वैसा स्वरूप यहाँ प्राप्त नहीं होता है अर्थात् देखा नहीं जाता है। यह स्वप्नमें दृष्ट वस्तु, मृगतृष्णाके जल, मायारचित गन्धर्व-नगरके समान होनेसे दृष्टनष्ट—देखते-देखते नष्ट हो जाता है इस-लिये इसका अन्त नहीं है और आदि—कब कहाँसे आरम्भ हुआ है यह भी नहीं जाना जाता है और संप्रतिष्ठा—मध्यकी अवस्था याने कबतक स्थिर रहेगा यह भी किसीने नहीं जाना इसीलिये इस संसारका आदि, अन्त और मध्य उपलब्ध नहीं होता। और

सुविरूढमूल—जिसके मूल (जड़ें) अत्यन्त दृढ़ हैं, ऐसे इस संसाररूप दृढ़मूलवाले अश्वत्थ वृक्षको असङ्ग—लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणाके त्यागरूप शस्त्रसे, जो शस्त्र परमात्माके सम्मुखतारूप निश्चयसे दृढ़ किया हुआ और वारंवार विवेक एवं अभ्यासरूप पत्थरपर घिसकर तीक्ष्ण—तेज किया हुआ है उस शस्त्रसे, समूल उखाड़कर, ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

वृक्षको उखाड़नेके अनन्तर उस परम वैष्णव पदको अन्वेषण-जानना चाहिये, जिस पदको प्राप्त होकर फिर संसारमें नहीं आते अर्थात् पुनर्जन्म नहीं लेते। उस पदको कैसे जानना चाहिये? 'उसी आदि पुरुषकी मैं शरण हूँ' इस प्रकार शरणागतिद्वारा। वह पुरुष कौन है? जिस पुरुषसे यह संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष अनादि कालसे ऐन्द्रजालिक—बाजीगरकी मायाके समान विस्तारसे फैला हुआ है ॥ ४ ॥

उस परम पदको पुरुष कैसे प्राप्त करता है?—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

अभिमान और अज्ञान जिनका नष्ट हो गया है, आसक्तिरूप

दोषको जिन्होंने जीत लिया है, जो नित्य अध्यात्म-चिन्तनमें लगे हुए हैं, अर्थात् सब कालमें परमात्म-स्वरूपका विचार करते रहते हैं, सब कामनाएँ जिनकी निवृत्त हो गयी हैं और सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंसे जो रहित हैं; वे मोहरहित ज्ञानी उस अव्यय अविनाशी परम वैष्णव पदको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

पुनः कैसा वह पद है ? सो सुनो—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

तेजोमय उस परम धामको सबका प्रकाशक सूर्य भी प्रकाशित नहीं कर सकता एवं चन्द्रमा और अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकता है तथा जिस परमधामको प्राप्तकर मनुष्य पुनः संसारमें नहीं लौटता, वह मुझ परमेश्वर विष्णुका परम धाम है ॥ ६ ॥

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते—जहाँ जाकर पुनः नहीं लौटता' यह कहा गया। किन्तु गति तो आगतिसे युक्त ही होती है, क्योंकि सभी संयोग वियोगवाले ही होते हैं, तब यह बात कैसे कही जाती है कि उस धामको प्राप्त पुरुष नहीं लौटता है ? उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

संसारमें जो जीवरूप शक्ति कर्ता, भोक्ता इत्यादि नामसे प्रसिद्ध है, वह मुझ परमात्माका ही सनातन अंश है। जैसे जलमें प्रतीत होनेवाला सूर्यका अंश—प्रतिबिम्ब जलरूप निमित्तके नाश होनेसे बिम्बरूप ही हो जाता है—सूर्यको पाकर पुनः नहीं लौटता, वैसे ही यह अंश भी अविद्याकृत उपाधिके कारण एक-

देशीय याने परिच्छिन्न माना गया है, उस उपाधिका नाश होनेपर अपने स्वरूपमें ऐक्य प्राप्त करके पुनः नहीं लौटता है।

अंशरूपसे कल्पित जीव कैसे आता और कैसे जाता है? मन जिनमें छठा है ऐसी अपने-अपने स्थान कर्णछिद्रादि गोलकरूप प्रकृतिमें स्थित हुई इन्द्रियोंको यह जीव खींचता है॥ ७॥

कब खींचता है?—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

जब देहादि संघातका ईश्वर जीवात्मा पूर्वशरीरसे निकलकर दूसरे शरीरको प्राप्त करता है, तब मनसहित छः इन्द्रियोंको साथ लेकर जाता है; जैसे वायु पुष्पादि स्थानसे गन्धको लेकर जाता है॥ ८॥

मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन हैं?—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, जिह्वा और नासिका—इन इन्द्रियोंके साथ मनको आश्रय बनाकर यह शरीरमें स्थित जीव शब्दादि विषयोंको सेवन करता है॥ ९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥१०॥

पूर्वप्राप्त देहको छोड़कर जाते हुए, तथा देहमें स्थित हुए, शब्दादि विषयोंको भोगते हुए, एवं सुख-दुःख आदि गुणोंके अनुगत होते हुए जीवात्माको मूढ लोग नहीं देखते, अर्थात् मूढ

लोग दृष्टादृष्ट विषय भोगोंमें लिप्त और अनेक प्रकारसे मोहित-चित्त होनेके कारण प्रत्यक्ष दिखायी देते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते हैं। और जो ज्ञानचक्षु—प्रमाणरूप चक्षुसे युक्त हैं वे तो सदा देखते ही हैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

कई प्रयत्न करते हुए समाहितचित्त योगीजन प्रकृत आत्माको शुद्ध बुद्धिमें स्थित 'अयम् अहम्' 'यही मैं हूँ'—यों आत्मरूपसे प्रत्यक्ष ही देखते हैं। किन्तु जिन्होंने ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे अन्तःकरणको संस्कृत नहीं किया है, वे अकृतात्मा—असंस्कृतात्मा, एवं इन्द्रियोंके जय करनेमें असमर्थ, दुश्चरित्र, अविवेकी शास्त्र आदि प्रमाणोंसे प्रयत्न करते हुए भी अपने आत्मस्वरूपको नहीं देख पाते ॥ ११ ॥

समस्त जगत्की प्रकाशक सूर्य, अग्नि आदि ज्योतियाँ जिस परमपदको प्रकाशित नहीं कर पातीं, जिस पदको प्राप्त करके मुमुक्षुजन पुनः लौटकर संसारमें नहीं आते, एवं उपाधिजनित भेदसे घटाकाश-महाकाशके समान, जीव जिस पदके अंशरूपसे कल्पित हैं, उस परम पदका सर्वात्मत्व और सर्वव्यवहारका आधारत्व कहनेकी इच्छासे चार श्लोकोंमें संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

समस्त जगत्को प्रकाशित करनेवाला जो आदित्यके आश्रित तेज है तथा चन्द्रमा और अग्निमें स्थित जो तेज है, उसे मुझ विष्णुका ही तेज जानो।

अथवा जो तेज—चैतन्यमय ज्योति सूर्यमें, चन्द्रमामें और अग्निमें स्थित है, उस तेजको मुझ विष्णुका ही समझो।

प्र०—वह चैतन्य ज्योति तो चराचर सबमें समान रूपसे है, फिर सूर्यादिकी विशेषता क्या है ?

उ०—सत्वके आधिक्यसे अधिकता है, आदित्यादिमें निर्मल अत्यन्त प्रकाश, अत्यन्त भास्वरत्व है, अतः ब्रह्मज्योति उनमें अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है॥ १२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

तथा कामना एवं आसक्तिसे रहित जो ऐश्वर्य-बल जगत्को धारण करनेके लिये पृथिवीमें प्रविष्ट है, जिससे गुर्वी—भारवती पृथिवी नीचे नहीं जाती और न फटती है, उस बलसे मैं समस्त चराचर भूतोंको धारण करता हूँ।

श्रुति भी यही कहती है—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' 'स दाधार पृथिवीम्' (तै० सं० ४।१।८)—'जिससे द्युलोक और पृथिवी दृढ है।' 'वह पृथिवीको धारण करता है।' इत्यादि। अतः मैं पृथिवीमें प्रवेश करके चराचर भूतोंको धारण करता हूँ—यह कहना ठीक ही है।

और पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाली धान, जौ आदि समस्त ओषधियोंको मैं रसस्वभाव—रसरूप चन्द्रमा होकर पोषण करता हूँ अर्थात् उनको पुष्ट एवं स्वादयुक्त करता हूँ। जो रसात्मक है, जो रसोंका आकर है, जो रसरूप है—'रसो वै सः', वही सोम अपने रसके संचारसे ओषधियोंको पुष्ट करता है॥ १३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं पेटमें रहनेवाला वैश्वानर—जाठराग्नि होकर प्राणापान वायुसे संयुक्त हो भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य चार प्रकारसे खाये हुए अन्नोंको पचाता हूँ। श्रुति भी है—"अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते" (बृह० उ० ५।९।१) 'इस अग्निका नाम वैश्वानर है जो पुरुषके भीतर स्थित है, जिससे खाया हुआ अन्न पचता है।'

भोक्ता वैश्वानर अग्नि है और भोज्य अन्न सोम है। अतः अग्नि-सोमात्मक ही सारा जगत् है—ऐसा देखनेवाला मनुष्य अन्नदोषसे लिप्त नहीं होता है ॥ १४ ॥

और भी बात है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

तथा मैं समस्त प्राणिमात्रका आत्मा होकर उनकी बुद्धिमें स्थित हूँ, इसलिये प्राणियोंके स्मृति, ज्ञान और उनका अपोहन—अभाव भी मुझसे ही होता है। पुण्यकर्मा प्राणीको पुण्यकर्मानुरूप स्मृति और ज्ञान होता है और पापकर्मियोंको पापकर्मानुसार स्मृति एवं ज्ञानका अभाव होता है। एवं समस्त वेदोंके द्वारा मैं परमात्मा ही जानने योग्य हूँ, तथा वेदान्तका कर्ता और वेदान्तके अर्थोंका जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

चार श्लोकोंसे नारायण नामक भगवान् ईश्वरकी विशेष उत्तम उपाधियुक्त विभूतियोंका वर्णन संक्षेपसे किया गया। अब क्षर और अक्षर उपाधियोंसे अलग बतलाकर उस उपाधिरहित

शुद्ध परमात्माका स्वरूप निर्णय करनेके लिये आगेके श्लोकोंका आरम्भ करते हैं। इनमें आगे आनेवाले अध्यायों एवं अतीत अध्यायोंके समस्त अभिप्रायको तीन भेदोंमें विभाग करके कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

लोकमें दो विभाग पुरुष नामसे विख्यात हैं। एकका नाम क्षर पुरुष है जो विनाशी है और दूसरा इसके विपरीत है, उसका नाम अक्षर है जो भगवान्की मायाशक्ति है। यह मायाशक्ति क्षर पुरुषकी उत्पत्तिका बीज है तथा संसारी अनन्त जीवोंके काम-कर्मादि संस्कारका आश्रय है एवं अविनाशी भी है। ये दो पुरुष कौन हैं? यह विकारका समूह समस्त भूत क्षर पुरुष है और दूसरा अक्षर पुरुष कूटस्थ है। कूट—राशिके समान स्थित है अथवा कूटका अर्थ है माया, वंचना, छल, कुटिलता; ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं; वह माया आदि अनेक रूपसे स्थित है और अनन्त संसारका बीज होनेके कारण उसका नाश नहीं होता है ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इन दोनों—क्षर एवं अक्षरसे अत्यन्त विलक्षण और इन दोनों उपाधियोंके दोषसे रहित नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाववाला उत्तम पुरुष तो अन्य है जो परमात्मा नामसे कहा गया है एवं सब भूतोंका अन्तरात्मा है, जो लोकत्रय—भूः, भुवः और स्वः तीन लोकोंमें अपने चैतन्यबलकी शक्तिसे प्रवेश करके अपने

स्वरूपकी सत्तामात्रसे उनको धारण किये हुए है और जो अव्यय—अविनाशी ईश्वर सर्वज्ञ और सबका शासन करनेवाला नारायण नामसे वेदोंमें कहा गया है ॥ १७ ॥

ईश्वरका 'पुरुषोत्तम' यह नाम किस कारणसे प्रसिद्ध है ? इसकी उपपत्ति और नामकी सार्थकता बतलाते हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि क्षर—मायामय संसाररूप अश्वत्थ वृक्षको अतिक्रमण किये हूँ और अक्षर—संसाररूप वृक्षके बीजभूत अक्षरसे भी उत्कृष्ट—उत्तम हूँ, इसीलिये लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूँ ॥ १८ ॥

यथोक्त आत्मतत्त्वको जो जानता है उसका फल कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

जो ऊपर बतलाये हुए लक्षणसे युक्त मुझ पुरुषोत्तम ईश्वरको 'यह पुरुषोत्तम मैं हूँ' यह जानता है वह असंमूढ़ (अज्ञानसे रहित) पुरुष सर्वात्मभावसे सबको जानता है। अतः वह सर्वज्ञ है और हे भारत ! वह सर्वभूतोंमें स्थित मेरा सर्वभावसे—सबका आत्मा समझकर भजन करता है ॥ १९ ॥

मोक्षरूप फल देनेवाले भगवत्-तत्त्वको कहकर उसकी स्तुति करते हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

यद्यपि समस्त गीताको शास्त्र शब्दसे कहा गया है, तथापि इस अध्यायको गुह्य होनेके कारण स्तुत्यर्थ गुह्यशास्त्र कहा। इस अध्यायमें केवल समस्त गीताका ही अर्थ नहीं कहा गया है, किन्तु इसमें समस्त वेदोंका अर्थ भी समाप्त हो गया है; क्योंकि 'यस्तं वेद स वेदवित्', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'--यह भी कहा गया है।

हे अनघ—निष्पाप! हे भारत! मैंने यह गोपनीय शास्त्र कहा है। इसको जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है।

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"—'सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।' मनुस्मृति भी है—

एतद्धि जन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥(१२।९३)॥

'विशेषरूपसे ब्राह्मणजन्मकी यही पूर्णता है कि इसको प्राप्त करके द्विज कृतकृत्य होता है, अन्यथा नहीं।' ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

प्राणियोंकी तीन प्रकारकी दैवी, आसुरी और राक्षसी प्रकृति, जो नवम अध्यायमें संक्षेपसे कही गयी हैं, उन्हें विस्तारसे कहनेके लिये 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिसे यह अध्याय आरंभ किया जाता है। इनमें दैवी प्रकृति संसारसे मुक्त करनेवाली है और आसुरी एवं राक्षसी बन्धनकी कारण हैं; अतः दैवी सम्पत्तिको ग्रहण करने और आसुरी तथा राक्षसीका त्यागनेके लिये उनका विभाग करके वर्णन किया जाता है---

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—अभय--निर्भयता, सत्त्वसंशुद्धि--अन्तःकरणकी शुद्धि अर्थात् पर-वञ्चन, माया, अनृत आदिका त्याग; ज्ञानयोगव्यवस्थिति—शास्त्र एवं आचार्यके द्वारा आत्मादि पदार्थोंको जाननेका नाम ज्ञान है और उन ज्ञात पदार्थोंका इन्द्रियादि-संयमपूर्वक एकाग्रताद्वारा अनुभव करनेका नाम योग है—इन दोनोंमें स्थिर होना ही प्रधान दैवी सम्पद् है। दान—यथाशक्ति अन्नादिका विभाग, दम--बाह्य इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ--श्रौत अग्निहोत्रादि और स्मार्त देवयज्ञादि, स्वाध्याय--वेदादि शास्त्रोंका नित्य अध्ययन, तप—आगे बताया जानेवाला शारीरिक आदि तप और आर्जव--सरलता ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तथा अहिंसा—प्राणियोंको पीड़ा नहीं देना, सत्य—प्रिय और यथार्थ वचन, अक्रोध—दूसरेके द्वारा परुष वचन कहनेपर भी मनमें विकार न होना, त्याग—संन्यास (दान नहीं, क्योंकि दान पहले कह चुके हैं), शान्ति—अन्तःकरणका उपशम, अपैशुन—दूसरेका दोष किसी दूसरेके सामने प्रकट नहीं करना (चुगली नहीं करना), भूतेषु दया—जीवोंपर कृपा करना, अलोलुप्त्व—इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होनेपर भी विकार न होना, मार्दव—कोमलता (अक्रूरता), ह्री—लज्जा, अचापल—बिना प्रयोजन वाक्-पाणि-पाद आदि इन्द्रियोंके व्यापार न करना ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

एवं तेज—प्रगल्भता (तेजस्विता), क्षमा—निन्दित या ताडित होनेपर भी विकार न होना, धृति—चिन्ता-शोक और थकावटको दूर करनेवाली मनोवृत्ति, शौच—जल-मृत्तिकासे बाहरकी और कपट, राग आदिसे रहित निर्मल मन-बुद्धिका होना भीतरकी शुद्धि, अद्रोह—दूसरेका घात करनेकी इच्छा न करना, नातिमानिता—अपनेमें अत्यन्त पूज्य-बुद्धिका न होना; हे भारत ! अभयसे लेकर नातिमानितातक जो लक्षण कहे गये हैं, वे सब दैवी याने देवता-सम्बन्धी सम्पत्ति है । जिसका भविष्यमें कल्याण होना निश्चित है, उसीके ये लक्षण होते हैं ॥ ३ ॥

अब आसुरी सम्पद् कहते हैं—

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भ—धर्मध्वजिता, दर्प—धन और स्वजन आदिके निमित्त-से होनेवाला गर्व, अतिमान—अपनेमें अत्यन्त पूज्य-बुद्धि, क्रोध, पारुष्य—कटु वचन, अज्ञान—अविवेक (मिथ्या ज्ञान); हे पार्थ ! ये सब लक्षण आसुरी संपत्तिसे युक्त होकर उत्पन्न पुरुषके जानने चाहिये ॥ ४ ॥

इन दोनोंके कार्य बतलाये जाते हैं—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी संपत्ति संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाली है, आसुरी और राक्षसी बन्धनमें डालनेवाली कही गयी है । यह सुनकर अर्जुनके मनमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि क्या मैं आसुरी संपद्से युक्त हूँ किंवा दैवी संपत्तिसे ? इस भावको जानकर भगवान् कहते हैं कि तुम दैवी संपद्से युक्त उत्पन्न हुए हो, शोक मत करो; भविष्यमें तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! इस लोकमें मनुष्योंकी दो प्रकारकी सृष्टि है—एक दैवी और दूसरी आसुरी । श्रुति भी है—'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' (बृ० उ० १।३।१)—'प्रजापतिकी दो सन्तान हैं—देव और असुर ।' 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादि श्लोकसे दैवी सृष्टि विस्तारसे कही गयी, अब त्याग करने योग्य आसुरी सम्पत्ति मुझसे सुनो ॥ ६ ॥

अब अध्याय-समाप्तिपर्यन्त आसुरी संपद् दिखलायी जायगी, क्योंकि प्रत्यक्ष जाननेपर ही त्याग सुलभ होता है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

पुरुषार्थके साधनरूप कर्तव्य कर्ममें प्रवृत्ति और इसके विपरीत अनर्थके कारणरूप कर्मसे निवृत्ति—इन दोनोंको आसुरी संपत्तिवाले यथार्थ नहीं जानते। यही नहीं, उनमें शौच—पवित्रता, सदाचार और सत्य भी नहीं रहता है, अर्थात् उनमें अशौच, अनाचार, कपट और मिथ्यावादिता विशेष होती है ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

तथा वे कहते हैं कि जैसे हमलोग मिथ्यावादी हैं वैसे ही सारा संसार मिथ्यावादी ही है, धर्माधर्म इसका आधार नहीं है; न कोई शासन करनेवाला ईश्वर ही है। स्त्री-पुरुष परस्पर कामसे प्रयुक्त होते हैं, इसीसे संसार उत्पन्न होता है, इसमें अन्य कोई कारण नहीं है अर्थात् जगत् अहैतुक है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस प्रकारकी दृष्टिके अवलम्बनसे जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है एवं जो परलोकके साधनसे भी विभ्रष्ट हैं, वे विषयभोगमात्रमें प्रवृत्त रहनेके कारण अल्पबुद्धिवाले और उग्रकर्मा

याने हिंसा, लूटपाट, तोड़-फोड़ आदि कर्मोंको करनेवाले संसारके शत्रु, संसारका क्षय करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

और कभी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर दम्भ, मान और मदसे युक्त अपवित्र आचरणवाले मनुष्य अविवेकसे असद्ग्राह—अशुभ निश्चय करके लोक-व्यवहारमें प्रवृत्त रहते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

तथा वे अपरिमेय—जिसकी कोई सीमा नहीं है ऐसी अपार और प्रलयपर्यन्त पूरी नहीं होनेवाली चिन्ताका आश्रयण करके कामभोगमें परायण—लगे हुए, 'बस इतना ही सब कुछ है' इस निश्चयवाले होते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सैकड़ों आशारूप पाशोंमें जकड़े हुए एवं काम-क्रोधपरायण मनुष्य काम-भोगके लिये पर-धन-हरण आदि अन्यायसे धन-संचयकी चेष्टा करते रहते हैं ॥ १२ ॥

और वे इस अभिप्रायवाले होते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

मैंने इस समय इस वस्तुको प्राप्त किया है और मनको प्रसन्न करनेवाली अमुक वस्तुको आगे प्राप्त करूँगा। मेरे पास इतना धन है, इतना धन अगले संवत्‌में और हो जायगा, तब मैं विख्यात धनवान् हो जाऊँगा॥ १३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥ १४॥

अमुक दुर्जय शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे निर्बल शत्रुओंको भी मैं मारूँगा। मैं ईश्वर (समर्थ) और भोगी हूँ, सिद्ध और बलवान् तथा सुखी भी हूँ॥ १४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

मैं धनवान् और अभिजनवान्—सात पुरुषों (पीढ़ियों)से श्रोत्रियत्वादिगुण-सम्पन्न हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, धनका दान भी करूँगा एवं अत्यन्त प्रसन्न होऊँगा। इस प्रकारके अज्ञानसे वे मोहित होते हैं॥ १५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

ऊपर कहे गये विविध विचारोंसे भ्रान्त एवं अविवेकरूप मोहजालमें फँसे तथा विषयभोगमें निमग्न चित्तवाले मनुष्य अत्यन्त अशुचि नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

वे सर्वगुणविशिष्ट मानकर अपनेको बड़ा मानने लगते हैं, साधुपुरुष उनको बड़ा नहीं मानते । ऐसे नम्रतारहित, धन-मानके घमण्डसे युक्त मनुष्य दम्भसे अविधिपूर्वक नाममात्रके यज्ञोंके द्वारा पूजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

विद्यमान एवं अविद्यमान गुणोंको अपनेमें आरोपकर अपनेको विशिष्ट माननेका नाम अहंकार है; इस अहंकारका ही नाम अविद्या है, यह सर्व अनर्थका मूल एवं सर्व दोषोंका कारण है; इस अहंकारको और बल, दर्प, काम, क्रोध तथा अन्यान्य और भी अनेक दोषोंको अवलम्बन करके अपने तथा दूसरेके शरीरमें स्थित मुझ ईश्वरके शासनका उल्लङ्घन करना रूप द्वेष करते हुए सन्मार्गगामी पुरुषोंके गुणोंको सहन न करके उनकी निन्दा करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

साधु पुरुषोंसे तथा मुझसे द्वेष करनेवाले, सन्मार्गके प्रतिपक्षी और अशुभ कर्म करनेवाले उन क्रूर नराधमोंको मैं

प्रायः क्रूर कर्म करनेवाले व्याघ्र-सिंह आदि आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरी योनिको प्राप्त वे अविवेकी मूढ़ प्रति जन्ममें तमोगुण-बाहुल्य योनिमें ही जन्म लेते हैं। हे कौन्तेय ! मुझ ईश्वरको न प्राप्त करके ही वे उससे भी अधम योनियोंमें ही जाते हैं ॥ २० ॥

अब संक्षेपसे समस्त आसुरी संपद्का वर्णन किया जाता है, जिसमें अनन्त भेद होनेपर भी काम-क्रोध-लोभ इन तीनोंमें सब भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है एवं सब दोषोंके मूल कारण इन तीनों दोषोंका परिहार होनेपर सब दोषोंका परिहार (नाश) हो जाता है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

ये तीन प्रकारके नरक-प्राप्तिके द्वार हैं, इनमें प्रविष्ट होकर आत्मा नष्ट हो जाता है अर्थात् पुरुषार्थसे गिर जाता है। काम, क्रोध और लोभ ये तीन दोष ही सब अनर्थके मूल हैं, इन तीनोंका यत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये। इन तीनोंका त्याग करनेसे सर्व अनर्थका त्याग हो जाता है ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे कौन्तेय ! नरकके द्वारभूत सब दुःखोंके कारण कामादि तीनोंसे विमुक्त--छूटा हुआ मनुष्य अपने श्रेय--मोक्षमार्गका आचरण करता है और परागति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥२२॥

समस्त आसुरी संपत्के त्याग और श्रेयके आचरण करनेका मूल कारण है शास्त्र; क्योंकि कोई भी मनुष्य दोषोंका त्याग और श्रेयका आचरण दोनोंको शास्त्र-प्रमाणसे ही करनेमें समर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

कर्तव्याकर्तव्य (विधि एवं निषेध) अर्थात् कौन कर्तव्य कर्म है, जिसको करना चाहिये तथा कौन अकर्तव्य है, जिसको नहीं करना चाहिये--इसका ज्ञान शास्त्रसे ही मनुष्यको होता है। इस प्रकार जो विधि-निषेधका आदेश देनेवाले शास्त्रको त्यागकर कामनासे प्रेरित हो (मनमाना) व्यवहार करता है, वह न सिद्धि (पुरुषार्थकी योग्यता) को तथा न सुख और न परागतिको ही प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इसलिये कर्तव्याकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्र-विधिसे कही बातोंको जानकर अर्थात् स्वकर्मको जानकर ही कर्मक्षेत्रमें कर्म करना उचित है। भाव यह कि अपने अधिकारके अनुकूल कर्म करना चाहिये ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

———

अथ सप्तदशोऽध्यायः

'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' इस भगवद्वाक्यरूप प्रश्नके बीजको पाकर अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

हे कृष्ण! जो श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित विधिको छोड़कर श्रद्धा—आस्तिक्यबुद्धिसे देवादिका अविधिपूर्वक पूजन करते हैं; यहाँ 'शास्त्रविधिको छोड़कर श्रद्धासे देवादिका पूजन करते हैं'—इस वाक्यसे जो शास्त्रविधिको नहीं जानते, केवल वृद्धलोगोंके व्यवहारको आदर्श मानकर श्रद्धासे पूजन करते हैं उनका ग्रहण है। जो शास्त्रविधिको कुछ जानते हुए भी उसको छोड़कर यजन करते हैं उनका यहाँ ग्रहण नहीं है; क्योंकि यहाँ 'श्रद्धयान्विताः'—'श्रद्धासे युक्त' विशेषण दिया गया है। शास्त्रको जानते हुए शास्त्रविधिको छोड़ना और श्रद्धायुक्त होना—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है; अतः यहाँ उन्हींका ग्रहण है जो शास्त्रविधिको नहीं जानते। उनकी श्रद्धा कौन-सी श्रद्धा है—सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी? ॥ १ ॥

यह प्रश्न सामान्य मनुष्योंके विषयमें है, अतः विभागके विना उत्तर नहीं बन सकता; विभाग करनेके लिये श्रीभगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

जन्मान्तरमें किये हुए धर्माधर्मका जो संस्कार मरणकालमें व्यक्त (प्रकट) होता है, उसका नाम स्वभाव है। स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकारकी होती है, इनका भेद मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

सभी प्राणियोंकी श्रद्धा विशिष्ट याने विविध संस्कारोंसे युक्त अन्तःकरणके अनुरूप होती है। हे भारत! यह संसारी जीव श्रद्धामय होता है, क्योंकि जिस जीवकी जैसी श्रद्धा होती है, उस श्रद्धाके अनुरूप ही वह जीव होता है ॥ ३ ॥

देवादिके पूजनरूप कार्यसे श्रद्धाका अनुमान किया जाता है—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक श्रद्धावाले पुरुष देवताओंका पूजन करते हैं, राजसी श्रद्धावाले यक्ष एवं राक्षसोंका और तामसी श्रद्धावाले भूत-प्रेतादिगणोंका पूजन करते हैं ॥ ४ ॥

जिनके कार्योंसे श्रद्धाका निर्णय किया गया है, उनमेंसे सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक सात्त्विक श्रद्धासे युक्त हो देवताओंका

पूजन करते हैं, अधिकांश तो राजसी और तामसी निष्ठावाले ही होते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

जो दम्भ, अहंकार तथा काम और राग (आसक्ति) जनित बलसे युक्त होकर अशास्त्रविहित–शास्त्रमें जिसका विधान नहीं है एवं घोर—अपनेको और अन्योंको पीड़ा करनेवाला है ऐसा तप करते हैं, उनको आसुरी निश्चयवाले जानो—यों आगेके श्लोकसे इसका सम्बन्ध है ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

वे अविवेकी मनुष्य-शरीरमें स्थित इन्द्रियादि समुदायको एवं शरीरके भीतर स्थित, कर्म तथा बुद्धिके साक्षी मुझको भी कृश करते हुए तप करते हैं। मेरी आज्ञाका उल्लंघन ही मुझको कृश करना है। अतः उनको आसुरी निश्चयवाले जानो ॥ ६ ॥

अब सात्त्विक, राजस और तामस आहार, यज्ञ, तप और दानका भेद वर्णन किया जाता है। इनको जानकर राजस और तामस आहार, यज्ञ, तप और दानका त्याग करके सात्त्विक आहारादिका सेवन करना चाहिये—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

भोजन करनेवाले सभीको तीन प्रकारका आहार प्रिय होता है तथा यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकारका होता है। उनका भेद सुनो ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, सत्त्व—बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाला, सरस, चिकना याने घृतादिमिश्रित अन्न, स्थिर—चिरकालतक रहनेवाला जिसका सार हो, और मनको प्रसन्न करनेवाला आहार सात्त्विक आहार है ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अत्यन्त कटु, अत्यन्त खट्टे, अति लवण, अति उष्ण एवं अत्यन्त तीक्ष्ण, रूक्ष और दाह करनेवाला और शोक, दुःख, रोगको बढ़ानेवाला आहार राजस पुरुषको प्रिय होता है ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

यातयाम—मंदपका (अधपका), रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और अमेध्य—अभक्ष्य भोजन तामसी जीवको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अब यज्ञके तीन भेद कहते हैं—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

फलकी चाहना न करके शास्त्रविधिके अनुसार एवं कर्तव्य-कर्म समझकर मनको समाधान करके जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ कहलाता है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! फलके उद्देश्यसे एवं दम्भपूर्वक जो यज्ञ किया जाता है उसको राजस जानो ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधि—शास्त्रविधिसे हीन, असृष्टान्न—ब्राह्मणोंको अन्न न देकर एवं स्वर, वर्ण और मन्त्रसे हीन तथा श्रद्धारहित जो यज्ञ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥ १३ ॥

अब तपका भेद वर्णन करते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञ (ज्ञानी)—इनका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह सब शरीरप्रधान कार्य-करणसे होनेवाला तप शारीर कहलाता है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

किसी प्राणीके मनमें उद्वेग न करनेवाली एवं सत्य, प्रिय और हित-वाणी, जो इहलोक एवं परलोकमें सर्वत्र हित करने-

वाली हो; श्लोकमें 'च' शब्द सत्य, प्रिय एवं हित तीनोंका समुच्चय करनेके लिये है; अर्थात् जो वाणी दूसरेको किसी बातके जनानेके लिये बोली जाय उसमें सत्यादि तीनों लक्षण हों तो वह वाङ्मय तप होता है। इन तीनमें एकसे भी हीन होनेपर वाङ्मय तप नहीं होगा। और विधिपूर्वक स्वाध्यायका अभ्यास भी वाङ्मय तप कहलाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता याने स्वच्छता, सौमनस्य—मुखको प्रसन्न करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्ति, मौन—वाक्संयम भी मनके संयम-द्वारा ही होता है, आत्मविनिग्रह—मनोनिरोध; सामान्यतया संयम करना आत्मविनिग्रह है और वाग्-विषयक संयम करना 'मौन' होता है, भावसंशुद्धि—दूसरेसे व्यवहार करते समय अमायित्व याने छलरहित होना—यह सब मानस तप कहलाता है ॥ १६ ॥

ऊपर कहे गये कायिक, वाचिक और मानस तपोंके तीन-तीन भेद—सात्त्विक, राजस तथा तामस कैसे होते हैं इसका वर्णन आगे करते हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

उत्कृष्ट श्रद्धा (आस्तिक्य-बुद्धि)से, फलाकाङ्क्षासे रहित एवं समाहित चित्तसे किया गया उपर्युक्त तीन प्रकारका तप सात्त्विक तप कहलाता है ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कार-साधुकार (महत्ता) पानेकी इच्छासे एवं मान-सम्मान और पूजा-प्राप्तिके लिये दम्भपूर्वक जो तप किया जाता है वह राजस तप कहलाता है; उसका फल भी अनिश्चित और अध्रुव (अनित्य) नाशवान् होता है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

अविवेकपूर्वक हठसे, अपनेको पीड़ा देनेके लिये या दूसरेका विनाश करनेके उद्देश्यसे जो तप किया जाता है वह तामस तप कहा गया है ॥ १९ ॥

अब दानका भेद सुनो—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दान करना चाहिये—ऐसा मनमें विचार रखकर, प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ अनुपकारीको देश, काल और सत्पात्रमें जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक दान कहलाता है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

प्रत्युपकारकी भावनासे याने कालान्तरमें प्रत्युपकार करेगा—ऐसा मानकर अथवा इस दानका परलोकमें फल मिलेगा—इस

उद्देश्यसे तथा परिक्लिष्ट—खेदपूर्वक दिया हुआ दान राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अपुण्य—म्लेच्छादि अशुद्ध देशमें, अकालमें याने संक्रान्ति आदिसे रहित कालमें, अपात्रमें, असत्कारपूर्वक, तिरस्कार करके दिया गया दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

अब यज्ञ, दान और तपको सद्गुणसम्पन्न बनानेका उपदेश दिया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ओम्, तत्, सत्—इन तीन नामोंसे ब्रह्मका निर्देश वेदान्तमें है, ऐसा ब्रह्मविद् पुरुषोंद्वारा माना गया है। प्राचीन कालमें इन तीनों नामोंसे ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञका निर्माण किया गया है। यह निर्देश ब्रह्मके नामकी स्तुतिके लिये है ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंकी शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप-स्वरूप सब क्रियाएँ सदा 'ओम्' उच्चारणपूर्वक ही आरम्भ होती हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

'तत्' इस ब्रह्मके नामका उच्चारण करके एवं फलाभिसंधान--कर्मफलाभिलाषसे रहित, अनेक प्रकारके यज्ञ एवं तप और सुवर्णादि विविध वस्तुओंके दान मुमुक्षुओंके द्वारा किये जाते हैं ॥ २५ ॥

ऊपर 'ओम् और तत्' शब्दोंका विनियोग बताया गया, अब 'सत्' शब्दका विनियोग कहते हैं—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

असद् वस्तुके सद्भाव होनेमें, यथा—जिसको पुत्र नहीं है उसके पुत्र उत्पन्न होनेमें एवं साधुभाव--दुराचारीके सदाचारी होनेमें और प्रशस्त--विवाहादि मंगल कर्ममें, हे पार्थ ! सत् शब्दका प्रयोग--उच्चारण किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, दान और तपमें जो स्थिति--अचाञ्चल्य है वह सत् है—ऐसा विद्वानोंने कहा है तथा भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म भी सत् है । इस प्रकार यज्ञ, दान और तपमें यदि असात्विकता एवं विगुणता हो तो भी श्रद्धापूर्वक परमात्माके 'ओं, तत्, सत्' इन तीन नामोंके उच्चारणसे वे सात्त्विक और सगुण बन जाते हैं ॥ २७ ॥

सब जगह श्रद्धाकी प्रधानतासे ही सब कुछ किया जाता है:

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अश्रद्धासे किया हुआ हवन, ब्राह्मणोंको दिया हुआ दान, किया हुआ तप एवं स्तुति-नमस्कारादि कर्म असत् कहा जाता है। हे पार्थ! मेरी प्राप्तिके साधनसे बाह्य होनेके कारण वह असत् है। क्योंकि बहुत परिश्रमसे किया हुआ भी श्रद्धारहित यज्ञादि साधु पुरुषोंद्वारा निन्दित होता है तथा वह न इस लोकमें और न मरनेपर—परलोकमें ही शुभ फल देता है ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः

समस्त गीताशास्त्रका अर्थ इस अध्यायमें उपसंहार करने तथा समस्त वेदोंका तात्पर्य भी कहनेके लिये यह अध्याय आरम्भ किया जाता है।

पहले कहे गये सभी अध्यायोंका अर्थ (विषय) इसमें मिलता है, किन्तु अर्जुन संन्यास और त्याग—इन दो शब्दोंका अर्थ जाननेकी इच्छासे बोला—

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! संन्यास और त्याग शब्दके यथार्थ तत्त्वको पृथक्-पृथक् जाननेकी इच्छा करता हूँ ॥ १ ॥

अतीत अध्यायोंमें जगह-जगह कहा हुआ संन्यास और त्याग शब्दका अर्थ स्पष्ट नहीं है इसलिये अर्जुनके पूछनेपर उनका स्पष्ट अर्थ सुनानेके लिये भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

अनुष्ठेय रूपसे प्राप्त, शास्त्रविहित सकाम अग्निहोत्रादि कर्मोंको न करनेका नाम 'संन्यास' है—ऐसा कई विद्वान् समझते हैं और कुछ लोग अनुष्ठान करने योग्य नित्य-नैमित्तिक सब कर्मोंके फल-त्यागको 'त्याग'का अर्थ कहते हैं। चाहे काम्य कर्मोंका त्याग हो या समस्त कर्मोंके फलका त्याग हो, सब प्रकारसे संन्यास और त्यागका अर्थ त्याग ही होगा ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कई सांख्यमतावलम्बी पण्डितजन कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं; अतः जैसे राग-द्वेषादि दोष त्याज्य हैं, उसी प्रकार सर्व कर्म भी त्याज्य ही हैं। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं।

यहाँ यह जानना चाहिये कि जो आत्मज्ञानरहित कर्माधिकारी हैं जिनके द्वारा मोह या कायक्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग सम्भव है, वे ही तामस-राजस त्यागी हैं—ऐसा कहकर आत्मज्ञानरहित कर्माधिकारियोंके कर्मफलत्यागकी स्तुति करनेके लिये राजस-तामस त्यागियोंकी निन्दा की जाती है।

अतः यह संन्यास और त्याग-सम्बन्धी विकल्प कर्माधिकारियोंके विषयमें है, यथार्थ ज्ञानी सांख्ययोगीके लिये नहीं है ॥ ३ ॥

इन विकल्प-भेदोंमें—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतसत्तम! हे पुरुषव्याघ्र! त्याग एवं संन्यासके विषयमें मेरा निर्णय सुनो। त्याग और संन्यास शब्दका वाच्यार्थ एक ही है, इस अभिप्रायसे त्यागके नामसे ही उत्तर देते हैं कि त्याग शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कहे गये हैं।

कर्मके अधिकारीके लिये त्याग एवं संन्यासके वाच्यार्थ संन्यासका तीन प्रकारका भेद होना सम्भव है, परमार्थदर्शी ज्ञानीका नहीं। यहाँ भाष्यकार लिखते हैं कि—

"अयमर्थो दुर्ज्ञानः, तस्मात् अत्र तत्त्वं न अन्यो वक्तुं समर्थः. तस्मात् निश्चयं परमार्थशास्त्रार्थविषयम् अध्यवसायम् ऐश्वरं शृणु"—'उपर्युक्त तत्वका अभिप्राय समझना बड़ा कठिन है, इसलिये यथार्थ तत्वका बतानेवाला मुझसे अन्य कोई समर्थ नहीं है अतः मुझ ईश्वरके बताये हुए शास्त्रके यथार्थ अर्थ-संयुक्त निश्चयको सुनो ॥ ४ ॥

वह निश्चय क्या है?—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तप—ये तीन प्रकारके कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं बल्कि ये तो करने योग्य ही हैं। फलकी कामनासे रहित पुरुषोंको ये तीनों पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

ये यज्ञ, दान और तप जो पवित्र करनेवाले कहे गये हैं, इनमें आसक्ति और फलका त्याग करके ही इनका अनुष्ठान करना चाहिये—यह मेरा निश्चित उत्तम मत है।

आसक्तियुक्त और फलेच्छुको ये यज्ञ, दान और तपरूप कर्तव्य कर्म बन्धनके कारण होते हैं तथापि फलासक्तिरहित मुमुक्षुको इन तीन कर्मोंको करना चाहिये। इस श्लोकके "एतान्यपि" पदमें अपि शब्दका यही अर्थ है। इनको करनेसे शुद्धान्तःकरणके लिये ये ज्ञान-प्राप्तिके द्वारा मुक्तिके कारण बन जाते हैं।

कुछ टीकाकारोंका कहना है कि नित्य कर्मोंका फल नहीं होता तो उनमें आसक्ति और फलाशाका त्याग करके कर्म करना चाहिये—यह कैसे कहा गया है ? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।" "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र" इत्यादि कहकर नित्य कर्मोंका भी फल होता है यह सिद्ध किया है, क्योंकि मुमुक्षु बन्धनके भयसे नित्य कर्म भी छोड़ना चाहता है तो फिर सकाम कर्म कर ही कैसे सकता है? अतः 'यज्ञो दानं' 'यज्ञार्थात्' इत्यादि कथनसे नित्य कर्मोंका फल होता है, यही निश्चित किया है। विशेष जानना हो तो भाष्य देख लेना चाहिये ॥ ६ ॥

इसलिये मुमुक्षु अधिकारीको—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

अज्ञानीको पवित्र करनेवाले नियत—नित्य कर्मोंका त्याग करना युक्त नहीं है, मोहसे उन नित्य कर्मोंका त्याग तामस त्याग कहा गया है। नियत कर्म अवश्यकर्तव्य होता है, अतः उसका त्याग अत्यन्त विरुद्ध है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

तथा जो शारीरिक क्लेशके भयसे 'कर्म दुःखरूप है' ऐसा समझकर कर्मका त्याग करता है वह राजस त्याग है, उस राजस त्यागको करके त्यागका फल मोक्ष नहीं प्राप्त होता है ॥८॥

सात्त्विक त्याग कौन है ?—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन ! कर्तव्य समझकर आसक्ति और फलाशाको त्यागकर जो नित्य कर्म किया जाता है वह सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

जो अधिकारी आसक्ति और फलाशाको त्यागकर नित्य कर्म करता है वह नित्य कर्मोंके अनुष्ठानसे विशुद्धान्तःकरण हो आत्मदर्शनमें समर्थ हो जाता है; अतः नित्यकर्मानुष्ठानसे

विशुद्धान्तःकरण हुए आत्मज्ञानके अभिमुख पुरुषकी जिस क्रमसे आत्मज्ञानमें स्थिति होती है उसको कहते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

त्यागी पुरुष अशोभन—सकाम कर्म पुनर्जन्मके कारण हैं, अतः संसारके कारण इनसे क्या प्रयोजन है ऐसा समझकर इनसे द्वेष नहीं करता है और शोभन—नित्य कर्म अन्तःकरण-शुद्धि-द्वारा मोक्षके कारण हैं ऐसा मानकर उनमें आसक्ति नहीं करता है अर्थात् शोभन-अशोभन दोनों प्रकारके कर्मोंसे अपना प्रयोजन नहीं देखता है। वह सत्त्वसमाविष्ट—आत्मा और अनात्माके विवेकज्ञानके हेतुरूप सत्त्वगुणसे पूर्ण, त्यागी—कर्मोंमें अनासक्त, मेधावी—आत्मज्ञानसे युक्त बुद्धिवाला और छिन्नसंशय—आत्मज्ञान ही परम कल्याणका कारण है ऐसा निश्चयवान् होता है।

तात्पर्य यह है कि वह नित्यकर्मानुष्ठानसे शुभ-अशुभ कर्मोंमें कुछ प्रयोजन न देखकर उनमें द्वेष नहीं करता इसलिये त्यागी है, त्यागी होनेसे आत्मा और अनात्माके विवेकमें ही स्थित है इसीलिये मेधावी है, मेधावी होनेसे छिन्नसंशय भी है। इस क्रमसे अधिकारी नित्यकर्मानुष्ठानसे विशुद्धान्तःकरण होकर विवेकसे आत्मज्ञाननिष्ठ हो जाता है। यह निष्काम कर्मयोगका फल दिखलाया ॥ १० ॥

किन्तु जो कर्माधिकारी देहात्माभिमानी होनेसे अज्ञानी है एवं अज्ञानी होनेसे 'मैं कर्म करता हूँ' यों कर्माभिमानी है, ऐसे देहाभिमानियोंसे समस्त कर्मोंका त्याग होना असम्भव है; अतः उनका प्रथम कर्मफलत्यागपूर्वक नित्यकर्मानुष्ठानमें ही

अधिकार है, समस्त कर्मोंके त्यागमें नहीं। इसीको समझानेके लिये कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

देहभृत्—देहमें अहंभाव रखनेसे देहाभिमानी अज्ञानीके द्वारा समस्त कर्मोंका पूर्णतया त्याग होना सम्भव नहीं, इसलिये आत्मज्ञानसे रहित कर्माधिकारी नित्यकर्मानुष्ठान करता हुआ भी कर्मफलका त्यागी होनेसे त्यागी कहलाता है। यह देहधारी कर्मी होनेपर भी त्यागी होनेसे स्तुतिके योग्य है। यहाँ यह भी जानना चाहिये कि परमार्थदर्शी ही देहात्मभावसे रहित होनेके कारण अशेष कर्मोंका संन्यास कर सकता है ॥ ११॥

सर्वकर्मत्यागका फल क्या है? सुनो—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२॥

अनिष्ट—अधर्मका फल नरक एवं तिर्यक् सर्पादि योनिकी प्राप्ति एवं इष्ट—धर्मका फल देवादि शरीरकी प्राप्ति और इष्टानिष्ट-मिश्र याने धर्माधर्म मिले-जुले कर्मका फल मनुष्यशरीरकी प्राप्ति है। कर्ता, कर्म और क्रिया आदि बाह्य अनेक कारकोंके द्वारा सम्पन्न, ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) की मायाके समान, अविद्याजनित तथा महामोह करनेवाले, आपातरमणीय, जीवात्माके आश्रितके समान प्रतीत होनेवाले और सारहीन, क्षणमात्रमें लय (नष्ट) होनेवाले पदार्थका नाम फल है। यह फल शब्दका अर्थ है। यह धर्माधर्मलक्षण कर्मोंका अनिष्ट, इष्ट और

इष्टानिष्टमिश्र तीन प्रकारका फल परमार्थ-संन्यास न करनेवाले कर्मनिष्ठ अज्ञानीको ही मरनेपर मिलता है, परमार्थसंन्यासी (ज्ञानी) परमहंस-परिव्राजकको कभी नहीं मिलता है। सम्यक्दर्शी, ज्ञाननिष्ठ पुरुष संसारको बीजभूता अविद्याको नष्ट नहीं करता सो बात नहीं, किन्तु नष्ट कर ही देता है ॥ १२ ॥

कर्ता-क्रिया-फल आदि आत्मामें अविद्यासे आरोपित होनेके कारण परमार्थ—आत्मदर्शी सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर सकता है। देहमें आत्मभाव रखनेवाले अज्ञानीसे अशेष कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं—इस बातको दिखानेके लिये अगला श्लोक है--

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

ज्ञातव्य पदार्थोंकी जिस शास्त्रमें गणना की जाय उसका नाम सांख्य है और सांख्यका ही विशेषण कृतान्त है, कृत (कर्म)का अन्त (समाप्ति) जहाँ हो उसको कृतान्त कहते हैं। हे महाबाहो ! उस कृतान्त सांख्यमें अर्थात् वेदान्तशास्त्रमें सभी कर्मोंकी सिद्धिके लिये कहे हुए कर्मके इन पाँच कारणों (साधनों) को मुझसे सुनो ॥ १३ ॥

वे कौन-कौन हैं ? —

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान—इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञान आदिके रहनेका स्थान याने शरीर, कर्ता—कर्तृत्वाभिमानी जीव, करण—

भिन्न-भिन्न शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ, तथा इनके विविध प्रकारके श्वास-प्रश्वास आदि वायुसम्बन्धी व्यापार—इन चारोंके अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टाके साथ पाँचवाँ कारण दैव है याने इन्द्रियोंके अनुग्राहक सूर्यादि देव हैं ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य शरीर, वाणी और मनसे जो कुछ भी न्याय्य—धर्ममय अथवा अधर्ममय कर्म आरम्भ करता है, इन सबके ऊपर कहे गये पाँच ही कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऊपर कहे गये पाँच हेतुओंसे ही कर्म सिद्ध होता है, तब जो अकृतबुद्धि—आचार्यके उपदेश और वेदान्त तथा युक्तिसे संस्कृत बुद्धि न होनेके कारण अविद्यासे आरोपित अधिष्ठानादि पाँचोंके साथ आत्माका अभेद—एकत्व मानकर उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंमें, 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा समझता है याने एकमात्र केवल शुद्ध आत्माको कर्ता देखता है वह विपरीत और दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य यथार्थ नहीं देखता ।

तथा यदि आत्माको देहादिसे पृथक् माननेवाला आत्मवादी भी केवल आत्माको कर्ता समझता है तो वह भी अकृतबुद्धि ही है, इसलिये उसकी बुद्धि दुर्बुद्धि है । जिसकी बुद्धि कुत्सित, विपरीत, दुष्ट, जन्म-मरण देनेमें कारण हो, उसे दुर्बुद्धि कहा

गया है; जैसे तिमिर रोगवाला अनेक चन्द्रमा देखता है, वैसे ही उसका समझना है ॥१६॥

तब सुबुद्धि कौन है ?—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशसे और युक्तियोंसे जिसके अन्तःकरणमें अहंभावना नहीं है एवं जिसको यह ज्ञान भी है कि आत्मामें अविद्यासे ही अधिष्ठानादि पाँचों आरोपित हैं, इनके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंका मैं द्रष्टा—साक्षी हूँ, असंग होनेसे मैं अकर्ता हूँ—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः' (मु० उ० २।१।२)—प्राण और मनसे रहित, शुद्ध, पर अक्षरसे भी मैं पर हूँ—जो ऐसा जानता है, उसकी बुद्धि उपाधिके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे लिप्त नहीं होती, अतः वह सुमति है। इस प्रकारका ज्ञानी समस्त लोकोंको मारकर भी यथार्थमें किसीको नहीं मारता है और उसके परिणाम—पापरूप फलसे भी नहीं बँधता है।

तात्पर्य यह है कि वह अहंभावसे रहित है अतः अपनेको अविकारी जानता है। 'अविकार्योऽयमुच्यते' 'गुणैरेव कर्माणि क्रियन्ते', 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय', 'ध्यायतीव लेलायतीव'—इन सब प्रमाणोंसे आत्मा असंग है, अतः न मारता है न मारा जाता है यह कहना ठीक ही है।

द्वितीय अध्यायमें भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है कि—'नायं हन्ति न हन्यते' 'आत्मा न मरता है और न मारता है।'

'न जायते म्रियते वा' इत्यादिसे आत्माको अविक्रिय कहा और 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि उपदेशसे ज्ञानी--विद्वान्‌के लिये कर्माधिकारकी निवृत्ति कही। इसी बातका जगह-जगह प्रसंग लाकर विस्तार किया, अब इसी बातको कर्ममें ज्ञानीका अधिकार नहीं है यह बतलाकर उसका उपसंहार करते हैं, अर्थात् देहाभिमानसे रहित ज्ञानी अविद्याकृत समस्त कर्मोंका संन्यास कर सकता है इसीलिये सर्वकर्मसंन्यासीको इष्टानिष्ट और मिश्रित कर्मोंका फल नहीं मिलता है; और कर्माधिकारी अज्ञानी देहाभिमानीसे सर्वकर्मत्याग नहीं हो सकता है अतः ऊपर कहे गये तीन प्रकारके फल इनको मिलते हैं—यों यह समस्त वेद और गीतामें कहे गये अर्थका उपसंहार किया गया।

इस समस्त वेदार्थ-सारको निपुणमतिवालोंको धारण करना चाहिये। इसीसे यथाशास्त्र इस तत्त्वको हमने दिखा दिया है॥ १७॥

कर्मोंका प्रवर्त्तक क्या है ? सो कहते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

ज्ञान—जिससे वस्तु जानी जाय, ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ, परिज्ञाता—अविद्यासे कल्पित उपाधिविशिष्ट भोक्ता (जीव — तीनोंका समुदायही समस्त कर्मोंका प्रवर्तक है. इन ज्ञानादि तीनोंके मिलनेपर ही किसी कर्मका त्याग या संग्रह बनता है। तथा करण- कर्मका साधन, दश इन्द्रियां और चार अन्तःकरण—इन्हीं चौदह समस्त कर्मोंके साधनोंका नाम करण हैं. कर्म—कर्ताको जो इष्ट हो उसका नाम कर्म है, कर्ता—

इन्द्रियोंको अपने-अपने व्यापारमें लगानेवाला, ये तीनों कर्म-संग्रह हैं ॥ १८ ॥

त्रिगुणात्मक क्रिया, कारक एवं फलका गुणोंके भेदसे तीन भेद कहते हैं--

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९॥

सांख्यशास्त्रमें ज्ञान, कर्म और कर्ता—प्रत्येकका गुणोंके भेदसे तीन-तीन भेद माना गया है। इनको यथाशास्त्र सुनो। यहां "त्रिधैव" में 'एव' शब्दका प्रयोग है, इससे यह जाना जाता है कि उक्त तीनों पदार्थ गुणसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

यहाँ भाष्यकार लिखते हैं कि 'तद् अपि गुणसंख्यानं शास्त्रं गुणभोक्तृविषये प्रमाणम् एव परमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते'—'सांख्य यद्यपि ब्रह्म और आत्माके एकत्वमें विरुद्ध है, तो भी गुणोंके भोक्ता जीवके विषयमें तो प्रमाण है ही'॥१९॥

अब ज्ञानके तीन भेद सुनो—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतोंमें जिस ज्ञानसे एक आत्मवस्तुको देखता है, जिस एकभाव—आत्मवस्तुका कभी व्यय (नाश) नहीं होता एवं देहका विभाग होनेपर भी जिसका विभाग नहीं होता तथा जो आकाशवत् निरन्तर एकरूप रहता है, ऐसे अद्वैत आत्मदर्शनरूप ज्ञानको सात्विक ज्ञान जानो ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

जिस ज्ञानसे पृथक्-पृथक् नाना—अनेक भूतोंमें भिन्न-भिन्न भाव—अनेक आत्माको देखता है, उस अनेकात्मक ज्ञानको राजस ज्ञान जानो ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो ज्ञान एक कार्य—शरीरमें या शरीरसे बाहर किसी मूर्तिमें कृत्स्नवत्—संपूर्ण ज्ञानके समान स्थित है; जैसे किसी मूर्तिमें ही ईश्वर है मूर्तिसे भिन्न कहीं ईश्वर नहीं है अथवा जैसे दिगम्बर जैनमतावलम्बी शरीरके बराबर ही आत्मा मानते हैं; इस प्रकारका ज्ञान जो किसी एक कार्यमें ही स्थित है एवं जो युक्तिसे रहित और अतत्त्वार्थ—तत्व (ज्ञेय) वस्तु यथार्थ न हो उसको अतत्त्वार्थ कहते हैं—अर्थात् तत्वज्ञानसे रहित और अल्पविषयक या अल्प फलवाला होनेसे अल्प है, उस ज्ञानको तामस ज्ञान कहा गया है ॥ २२ ॥

अब कर्मके तीन भेद कहते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

नियत (नित्य), आसक्तिसे वर्जित, राग और द्वेषसे रहित तथा फलकी इच्छासे रहित पुरुषके द्वारा किये हुए कर्मको सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४॥

फलकी इच्छासे एवं अहंकारयुक्त पुरुषके द्वारा बहुत परिश्रमसे जो कर्म किया जाता है, वह राजस कर्म कहा गया है। यहाँ 'साहंकारेण' यह पद तत्वज्ञानीकी अपेक्षासे नहीं है किन्तु लौकिक निरहंकारीकी अपेक्षासे है; लोकमें भी देखा जाता है कि वेद-शास्त्रके ज्ञाता निरहंकारी होते हैं ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुबन्ध—परिणाम, क्षय—किये जानेवाले कर्ममें शक्ति एवं धनके क्षय, हिंसा—प्राणियोंकी पीड़ा, और पौरुष—अपने सामर्थ्यकी अर्थात् अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और सामर्थ्य—इन चारोंकी अपेक्षा—परवाह न करके जो मोह याने अज्ञानसे कर्म किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है ॥ २५ ॥

कर्ताके भेद—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६॥

आसक्तिरहित, अहंभावसे वर्जित, धैर्य और उत्साहसे युक्त, कर्मफलकी सिद्धि तथा असिद्धिमें निर्विकार रहनेवाला कर्ता सात्विक कर्ता कहा जाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७॥

आसक्तियुक्त रागी, कर्मफल चाहनेवाला, दूसरोंके धनमें तृष्णा रखनेवाला, अथवा तीर्थादिमें भी अपने धनका त्याग नहीं करनेवाला, दूसरेको पीड़ा देनेके स्वभाववाला, बाहर-भीतर अपवित्र रहनेवाला और हर्ष-शोकसे संयुक्त कर्म करनेवाला राजस कर्ता कहा जाता है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्त—असमाहितचित्त, प्राकृत—अत्यन्त असंस्कृत (संस्कारहीन), स्तब्ध—नम्रतासे रहित, शठ—कपटी, नैष्कृतिक—दूसरेकी जीविकाको नष्ट करनेवाला, अलस—कर्तव्यमें भी प्रवृत्तिहीन, विषादी—सदा शोकयुक्त, दीर्घसूत्री—बहुत विलम्बसे कर्म करनेवाला तामस कर्ता कहलाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! सत्त्वादि गुणोंके भेदसे बुद्धि और धृतिके भी तीन-तीन भेद पृथक्-पृथक् पूर्णतया मेरे द्वारा कहे हुए सुनो । अर्जुनने दिग्विजयमें देवता और मनुष्योंका बहुत-सा धन जीता था इसलिये उनका 'धनंजय' नाम पड़ा था ॥ २९ ॥

बुद्धिके तीन भेद—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

हे पार्थ ! प्रवृत्ति—बन्धनके कारण कर्ममार्ग तथा निवृत्ति—मोक्षके कारण संन्यासमार्गको एवं कार्याकार्य—विधि-निषेध

(करनेयोग्य और न करनेयोग्य) को जो बुद्धि जानती है, अर्थात् देश, काल आदिके भेदसे जिन कर्मोंके दृष्ट (इस लोकमें) तथा अदृष्ट (परलोकमें) शुभाशुभ फल होते हैं उनको जो बुद्धि जानती है;--और भय और अभयके कारणको तथा हेतुसहित बन्ध और मोक्षको जो बुद्धि जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है ऐसा जानो।

यहाँ बन्ध और मोक्षके साथ प्रवृत्ति और निवृत्तिकी समानवाक्यता होनेसे इनका अर्थ कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग ही है। पहले जो ज्ञानका भेद कहा गया, वह ज्ञान बुद्धिकी वृत्ति है। बुद्धि अनेक वृत्तिवाली है, धृति भी एक वृत्ति है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१॥

हे पार्थ! जिस बुद्धिसे शास्त्रविहित धर्म और शास्त्रप्रतिषिद्ध अधर्मको और पहले कहे गये कर्तव्य एवं अकर्तव्यको मनुष्य ठीक-ठीक नहीं जानता, उसको राजसी बुद्धि जानो ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२॥

हे अर्जुन! जिस बुद्धिसे मनुष्य अधर्मको धर्म जानता है और जाननेयोग्य अन्य समस्त पदार्थोंको भी विपरीत ही समझता है, उस तमोगुणसे आवृत बुद्धिको तामसी बुद्धि जानो ॥ ३२ ॥

अब धृतिका भेद सुनो—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी—एकरूप रहनेवाली, योग—सदा समाधिमें लगी हुई धृति—धारणाशक्तिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्तिको रोककर स्थिर धारण किया जाता है, उस धृतिको सात्त्विकी धृति जानो ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! धर्म, अर्थ और कामको मनुष्य जिस धृतिसे धारण करता है, तथा जिस-जिस धर्म, अर्थ और कामका प्रसङ्ग आता है उस-उस प्रसङ्गका फल चाहता है, उसको राजसी धृति समझो ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

कुत्सित बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिसे स्वप्न, भय शोक, दुःख और मदको नहीं छोड़ता, उक्त विषयोंको धारण किये रहता है, उस धृतिको तामसी धृति कहते हैं ॥ ३५ ॥

गुण-भेदसे कारक-क्रिया आदिके तीन-तीन भेद कहे गये। अब इनके फल सुखके तीन भेद कहते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! बारंबार आवृत्ति करनेसे जिस सुखमें प्रेम उत्पन्न होता है तथा जिस सुखसे समस्त दुःखकी समाप्ति हो जाती है, उस सुखके तीन प्रकारके भेद मुझसे सुनो ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

जो सुख पहले ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधिके आरम्भ-समयमें अत्यन्त श्रमसाध्य होनेसे विषके समान दुःखात्मक प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें ज्ञान-वैराग्यादिके परिपाकसे उत्पन्न सुख अमृतके समान है, विद्वानोंने आत्मबुद्धिके प्रसादसे जन्य होनेके कारण उस सुखको सात्विक सुख कहा है। स्वच्छ निर्मल जलके समान जो अपनी बुद्धि है, उससे उत्पन्न सुखको अथवा आत्माका अवलम्बन करनेवाली बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुखको सात्त्विक सुख कहा है ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न तथा पहले अमृतके समान प्रतीत होनेवाला और परिणाममें विषके तुल्य जो सुख है, उसको राजस सुख कहते हैं ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो आरम्भमें तथा अनुबन्ध (परिणाम)—भोगके अन्तमें भी आत्माको मोहमें डालनेवाला और निद्रा, आलस्य एवं प्रमादसे जन्य है, उस सुखको तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

अब प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

पृथिवीमें मनुष्यादि एवं स्वर्गादि अथवा अन्य चर-अचर कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन सत्वादि तीनों गुणोंसे रहित हो अर्थात् सभी त्रिगुणात्मक ही हैं।

यह सारा संसार सत्व, रज और तमोगुणका ही विस्तार, क्रिया-कारक और फल-स्वरूप तथा अविद्यासे कल्पित होनेसे अनर्थरूप है ॥ ४० ॥

पन्द्रहवें अध्यायमें 'ऊर्ध्वमूलम्' इत्यादि श्लोकसे वृक्षके रूपमें समूल वर्णन किया गया है और 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ततः पदं तत् परिमार्गितव्यम्' इत्यादिसे यह भी कहा गया है कि 'इसको दृढ़ असंग-शस्त्रसे समूल उखाड़कर परम-पदको खोजना चाहिये।' यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब सब कुछ त्रिगुणात्मक है, त्रिगुणात्मक होनेसे मिथ्या है तो मिथ्या वस्तुसे संसारकी कारण अविद्याकी निवृत्ति कैसे होगी इसका उपाय बतलाना चाहिये तथा समस्त गीताशास्त्रका इस प्रकार उपसंहार करना चाहिये, जिससे परम पुरुषार्थकी इच्छा करनेवालोंको यह बोध हो जाय कि समस्त वेद-शास्त्रका अनुष्ठान करनेयोग्य इतना ही अभिप्राय है। इसलिये आगेका श्लोक आरम्भ करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परंतप ! स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके पृथक्-पृथक् कर्मोंका विभाग निश्चित किया गया है और इन तीनोंसे पृथक् शूद्रके कर्मोंका विभाग निश्चित किया गया है, यहाँ ब्राह्मणादि तीनोंसे शूद्रको अलग करनेका कारण यह है कि शूद्रको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं है।

यहाँ 'स्वभावसे उत्पन्न गुण' कहनेका अभिप्राय यह है कि 'स्वभावः ईश्वरस्य प्रकृतिः त्रिगुणात्मिका माया सा प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवाः'—'ईश्वरकी प्रकृति त्रिगुणात्मिका मायाका नाम स्वभाव है, वह स्वभाव (माया) ही गुणोंकी उत्पत्तिमें कारण है, अतः इनको स्वभावप्रभव कहते हैं।'

अथवा ब्राह्मणका स्वभाव सत्वगुणसे उत्पन्न समझो, क्षत्रियका स्वभाव सत्वगुण-गौण रजोगुण-प्रधानसे उत्पन्न जानो और वैश्यका स्वभाव तमोगुण-गौण एवं रजोगुण-प्रधानसे उत्पन्न जानो और शूद्रका स्वभाव रजोगुण-गौण एवं तमोगुण-प्रधानसे उत्पन्न जानो। इन चारोंमें गुणोंके तारतम्यसे शम—शान्ति आदि ब्राह्मणोंका, ऐश्वर्यादि क्षत्रियोंका, चेष्टा वैश्योंका और मूढ़ता शूद्रोंका स्वभाव देखा जाता है।

अथवा जन्मान्तरकृत कर्मोंका संस्कार ही वर्तमान जन्ममें अपने कार्यके अभिमुख होकर व्यक्त (प्रकट) होता है इसका नाम भी स्वभाव है। इस स्वभावसे उत्पन्न गुणोंका नाम स्वभावप्रभव गुण हैं।

गुणोंका प्रादुर्भाव (प्राकट्य) विना कारणके नहीं हो सकता है अतः उनका स्वभाव उनकी उत्पत्तिका कारण है—यह बतलाया गया है। इस प्रकार स्वभाव (प्रकृति)से उत्पन्न सत्व, रज

और तमोगुणद्वारा अपने-अपने कार्यके अनुसार शमादि कर्मोंका विभाग किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि शमादि कर्मोंका तो शास्त्रसे विभाग किया गया है, फिर गुणोंद्वारा किया गया कैसे कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि सत्वादि गुणोंसे विभक्त कर्मोंका ही शास्त्रके द्वारा विभाग किया गया है, गुणोंकी निर्पेक्षतासे शास्त्रद्वारा विभाग नहीं किया गया है ॥ ४१ ॥

वे कर्म कौन-कौन हैं? यह कहते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (सरलता), ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यबुद्धि (श्रद्धा)—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं, अर्थात् ऊपर कहे गये स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा विभक्त कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्य—शूर-स्वभाव, तेज—प्रागल्भ्य (दूसरोंसे न दबनेका स्वभाव), धृति—धीर स्वभाव, दाक्ष्य—अनेक प्रकारके कार्य एक साथ प्राप्त होनेपर भी व्यामोह (घबड़ाहट) नहीं होना, युद्धसे न भागनेका स्वभाव, दान देनेका स्वभाव और शासन करनेका स्वभाव—ये क्षत्रिय जातिके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषि—भूमि जोतना अर्थात् खेती करना, गौओंकी रक्षा करना, वाणिज्य—क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना—ये वैश्य जातिके स्वाभाविक कर्म हैं, और शूद्रोंका सेवा करना स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

स्वजातिविहित कर्मोंके सम्यक् अनुष्ठानसे स्वर्ग-प्राप्ति-रूप फल स्वभावतः होता है—'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलधर्मायुः-श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' (आ० स्मृ० २।२।३)—'वर्णाश्रमी अपने कर्ममें निष्ठ होनेसे मरकर परलोकमें अपने कर्मफलको भोगकर शेष कर्मफलके अनुसार देश, जाति, कुल, धर्म, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख और मेधा आदिसे युक्त हो जन्म लेता है।' यह स्मृतिका वचन है, पुराणोंमें भी लोक-प्राप्तिरूप फलभेदके बहुतसे ऐसे वचन मिलते हैं। किन्तु दूसरे प्रकारसे कर्म करनेपर आगे कहे जानेवाला फल मिलता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने-अपने कर्मोंमें तत्पर मनुष्य अपने कर्मानुष्ठानसे अशुद्धि-क्षय होनेपर देह और इन्द्रियोंमें ज्ञाननिष्ठा-प्राप्तिकी योग्यतारूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है। अपने कर्मोंमें तत्पर जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, सो सुनो—॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस अन्तर्यामी ईश्वरसे समस्त भूतोंकी प्रवृत्ति—उत्पत्ति या चेष्टा होती है एवं जिस परमात्मासे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उसका प्रत्येक वर्णाश्रमी मनुष्य अपने-अपने कर्मोंसे पूजन करके ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

इसलिये दूसरेके भली-भाँति किये हुए धर्मानुष्ठानसे गुण-रहित भी अपने धर्मका अनुष्ठान श्रेष्ठ है। जैसे विषसे पैदा होनेवाले कीड़ेके लिये विष हानिकर नहीं होता, वैसे ही स्वभाव-नियत कर्म करनेसे मनुष्यको पाप नहीं होता ॥ ४७ ॥

विषसे उत्पन्न कीड़ेके समान दोषयुक्त भी नियत कर्म करने-वाले मनुष्यको पाप नहीं होता—यह कहा गया, एवं तीसरे अध्यायमें भी यह कहा गया है कि "परधर्मो भयावहः" 'दूसरे-का धर्म भय देनेवाला है' और "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" 'कोई भी अज्ञानी क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता', इसलिये—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हे कौन्तेय ! त्रिगुणात्मक होनेसे दोषयुक्त भी सहज—जन्मके साथ उत्पन्न होनेवाले कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये;

क्योंकि आरम्भ किये जानेवाले सभी कर्म धूमसे आवृत अग्निके समान दोषयुक्त ही होते हैं।

अभिप्राय यह है कि जन्मके साथ उत्पन्न होनेवाले सहज कर्मका नाम स्वधर्म है, इस स्वधर्मका त्याग करके परधर्मका अनुष्ठान (सेवन) करनेपर भी दोषसे छुटकारा नहीं मिल सकता है; क्योंकि परधर्म भयावह भी है और अज्ञानी समस्त कर्मोंका त्याग भी नहीं कर सकता है। अतः यही निश्चय होता है कि सहज (स्वधर्म)का त्याग नहीं करना चाहिये।

यहाँ यह विचार करना है कि क्या अशेषतः समस्त कर्मोंका त्याग अशक्य है इसलिये उनका त्याग नहीं करना चाहिये अथवा सहज कर्मका त्याग करनेमें दोष होता है इसलिये? यदि समस्त कर्मोंका त्याग होना अशक्य है इसलिये सहज कर्म नहीं त्यागना चाहिये, तब तो समस्त कर्मोंका त्याग करना ही गुण है—यही सिद्ध होता है।

यहाँ यथोक्त विचार सत्कारणवाद और असत्कारणवादकी दृष्टिसे किया जाता है। सत्कारणवादके सिद्धान्तमें कारण सत् ही कार्यकी उत्पत्ति होती है और असत्कारणवादमें असत् कार्यकी उत्पत्ति होती है। इन दोनों ही सिद्धान्तोंमें अशेष कर्मका त्याग नहीं बनता, अतः विवर्तवादकी दृष्टिमें सत् आत्मासे भिन्न जो कुछ भी दृश्यादृश्य वस्तु है वह सत् आत्मामें अविद्यासे कल्पित (आरोपित) है इसलिये देह-इन्द्रियादिके आश्रित कर्म भी कल्पित ही हैं। अतः कोई भी अज्ञानी अशेषतः कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता है, 'न हि कश्चित् क्षणमपि' इत्यादि कहा है। परन्तु विद्वान् (ज्ञानी) तो विद्यासे अविद्याके निवृत्त होनेपर अविद्यासे आरोपित कर्मोंका अशेषतः त्याग कर सकता है। अतः अज्ञानीके लिये 'सर्वकर्माणि मनसा', 'स्वे स्वे कर्मण्य-

भिरतः संसिद्धिं लभते नरः' 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यादि यथार्थ ही कहा गया है ॥ ४८ ॥

ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता-प्राप्तिके लिये कर्मयोग कहा गया, उस कर्मयोगका फल ज्ञाननिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि बतलानेके लिये कहते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जिसकी बुद्धि पुत्र, स्त्री आदि आसक्तिके सभी स्थानोंमें संग (आसक्ति) से रहित है, जिसका अन्तःकरण वशमें है, जो स्पृहा—तृष्णासे रहित है, वह पुरुष ज्ञानपूर्वक सर्वकर्म-संन्यासके द्वारा 'निष्क्रिय ब्रह्म ही आत्मा है' इस प्रकारके ज्ञानसे होनेवाली सर्वकर्मनिवृत्तिरूपा परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ ४९ ॥

जो ईश्वरके अर्चनरूप स्वकर्मानुष्ठानसे उत्पन्न ज्ञानप्राप्तिकी योग्यतारूप सिद्धिको प्राप्त है एवं जिसे आत्मविषयक विवेक ज्ञान हो गया है, उसे जिस क्रमसे आत्मज्ञाननिष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है उस क्रमको कहते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे कौन्तेय ! अपने कर्मोंसे ईश्वरका अर्चन करके ईश्वरकृपासे उत्पन्न देह-इन्द्रियोंकी ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धिको प्राप्त साधक जिस ज्ञाननिष्ठारूप प्रकारसे परमात्माको प्राप्त करता है, जो ब्रह्मज्ञानकी परा निष्ठा (अन्तिम अवधि) है, उसको मुझसे संक्षेपमें समझो ।

वह निष्ठा कैसी है ? जैसा आत्मज्ञान है। वह कैसा है ? जैसा आत्मा है। आत्मा कैसा है ? जैसा भगवान् एवं उपनिषदों तथा न्याय—युक्तिसे कहा गया है।

प्र०—ज्ञान तो विषयाकार होता है, किन्तु आत्मा तो न आकारवान् है और न किसीका विषय ?

उ०—'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्', 'भारूपः', 'स्वयं ज्योतिः'—'आदित्यवर्ण, प्रकाशरूप, स्वयं ज्योति' इस प्रकार श्रुतिमें आत्माके आकारका वर्णन तो है।

प्र०—ऐसा नहीं, आत्मामें द्रव्य, गुण आदिका प्रतिषेध होनेसे 'आत्मा तमोरूप है' इस शंकाका निराकरण करनेके लिये ही 'आदित्यवर्णम्' इत्यादि वाक्य हैं। आत्मा तो अरूप ही है—'अरूपम्।' तथा 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्', 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि वचनोंसे आत्मा किसीका विषय भी नहीं है। जब ज्ञान और आत्मा दोनों निराकार हैं—तो इनमें भावना और निष्ठा कैसे हो सकती है ?

उ०—आत्मा अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ तथा सूक्ष्म है और बुद्धि भी वैसे ही निर्मल है, अतः उसमें आत्मचैतन्यका आकार भासित होता है। बुद्धिमें आत्मचैतन्यके आभाससे मन और मनके आभाससे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके आभाससे स्थूल शरीर आभासित (प्रकाशित) हो रहा है। इसी कारण समस्त लौकिक मनुष्य देहमें ही आत्मदृष्टि करते हैं, अर्थात् देहको ही आत्मा मानते हैं। कोई तो इन्द्रियचैतन्यको याने 'अहं पश्यामि', 'अहं शृणोमि' इत्यादि रूपमें इन्द्रियोंको ही आत्मा मानते हैं, कोई

मनको, कोई-कोई बुद्धिको ही आत्मा मान बैठे हैं। किन्तु बुद्धिसे लेकर देहपर्यन्त आत्मचैतन्यके आभाससे भासमान देहादिमें वे भ्रान्तिसे ही आत्मा मानते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध तो विज्ञानसे भिन्न किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं मानते। और उस विज्ञानको स्वसंवेद्य मानते हुए किसी प्रमाणकी भी आवश्यकता नहीं मानते।

अतः ब्रह्मज्ञानके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना है, क्योंकि ब्रह्म तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है, केवल ब्रह्ममें अविद्यासे अध्यारोपित देहादि अनात्मवस्तुके निराकरणमात्रमें ही प्रयत्न कर्तव्य है। ब्रह्म अत्यन्त प्रसिद्ध, सुविज्ञेय, अत्यन्त समीप और आत्मस्वरूप ही है, तथापि अविद्यासे आरोपित नाम-रूप आदि जो विशेष आकार है उससे अपहृत बुद्धिके कारण भ्रमसे अविवेकियोंको आत्मा अप्रसिद्ध, दुर्विज्ञेय, अत्यन्त दूर और अपनेसे अन्यके तुल्य भान हो रहा है। जिनकी बाह्याकार बुद्धि निवृत्त हो गयी है, जिन्होंने गुरु एवं आत्माका प्रसाद प्राप्त कर लिया है, उनके लिये तो आत्मासे अधिक सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय और अत्यन्त समीप अन्य कोई वस्तु ही नहीं है। कहा भी गया है—"प्रत्यक्षावगमं धर्म्यम्" इत्यादि।

कोई अपनेको पण्डित माननेवाले यह मानते हैं कि निराकार होनेसे आत्मतत्त्वको बुद्धि नहीं ग्रहण कर सकती अतः आत्मतत्त्वमें सम्यक् निष्ठा दुःसाध्य है।

बात भी ऐसी ही है। जिन्होंने गुरु-परम्परापूर्वक वेदान्तको नहीं सुना है, जिनकी बुद्धि बाह्य विषयोंमें आसक्त है, जिन्होंने सम्यग्ज्ञानविषयक प्रमाणोंमें परिश्रम नहीं किया है, उनके लिये आत्मतत्त्व दुःसाध्य ही है।

इसके विपरीत, लौकिक ग्राह्य-ग्राहक द्वैत वस्तुओंमें जिन्होंने मिथ्यात्वका निश्चय किया है, उनको आत्मचैतन्य-सत्तासे भिन्न कुछ वस्तु ही नहीं भान होती, वे तो "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" ऐसा अनुभव करते हैं। भगवान्‌ने भी यही कहा है— "यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" 'जिसमें समस्त भूत जागते हैं, तत्त्वदर्शी ज्ञानीको वही रात्रिके समान है।'

यह अत्यन्त सुस्थिर निश्चय है कि आत्मा प्रसिद्ध है और ज्ञाता, ज्ञान भी प्रसिद्ध है। आत्माके जाननेके लिये अनात्म-वस्तुकी निवृत्तिका ही यत्न करना चाहिये। अतः ज्ञाननिष्ठा सुसंपाद्य है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥
(स्क० १०, अ० १४, श्लो० २८)

'हे अनन्त! भव—चिज्जडात्मक शरीरमें ही आत्मासे अति-रिक्त अध्यस्त अतत्प्रतीतिको अपवाद (त्याग) करके सन्त विवेकी आत्मस्वरूप आपको ढूँढ़कर जान लेते हैं, असत् प्रतीत होनेवाले सर्पको त्यागे विना अत्यन्त विवेकी भी समीपमें स्थित रज्जुको नहीं जानता, अतः असत् प्रतीत होनेवाले शरीरादिके अपवादके विना आपको कोई नहीं जान सकता है'॥ ५०॥

ऊपर कहे गये ज्ञानकी परा निष्ठा कैसे करनी चाहिये? सो कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥

छलरहित निश्चयात्मिका शुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर धैर्यसे

कार्य-करणके संघातरूप आत्मा—देहादिको नियमन—अपने वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और शरीर-स्थितिके कारणभूत पदार्थोंमें भी राग-द्वेषको छोड़कर--॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

जो विविक्तसेवी—अरण्य, नदी-तीर, पर्वत और गुहादि एकान्त देशमें रहनेके स्वभाववाला और थोड़ा आहार करनेवाला है; एकान्त-सेवन और लघ्वशन ये दोनों निद्रादि दोष-निवर्तक और चित्तकी प्रसन्नताके कारण हैं; तथा जो वाणी, शरीर और मनको संयत करके और वैराग्य—दृष्टादृष्ट विषयोंमें वितृष्ण होकर, ध्यानयोग—आत्मस्वरूपके चिन्तनरूप ध्यान और आत्मामें मनको एकाग्र करनारूप योगमें नित्य परायण है, वह ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त करता है, ऐसा अगले श्लोकसे सम्बन्ध है। इस श्लोकमें 'ध्यानयोग' शब्दके साथ नित्य शब्दका ग्रहण मन्त्र-जपादि अन्य कर्तव्यका अभाव दिखलानेके लिये है ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

अहङ्कार—देह-इन्द्रियादिमें अहंभावना, बल—काम-रागादिमें आसक्ति, दर्प—हर्षके अनन्तर होनेवाला धर्मोल्लङ्घन—'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति'—'हर्षमें दर्प (गर्व) करता है, गर्व करके धर्मका उल्लङ्घन करता है इसीका नाम दर्प है', काम, क्रोध और परिग्रह, काम-क्रोधको त्यागनेपर भी शरीर-धारण करनेके लिये धर्मानुष्ठानके प्रसङ्गमें प्राप्त वस्तुओंके संग्रहको

छोड़कर अर्थात् अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहसे रहित, निर्मम और शान्त—उपरत (परिश्रमसे रहित) ज्ञाननिष्ठाप्राप्त योगी (संन्यासी) ब्रह्मस्वरूप होनेके योग्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

उपर्युक्त क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त तथा प्रसन्नात्मा—अध्यात्मप्रसादको प्राप्त योगी किसी पदार्थकी हानि होनेपर शोक नहीं करता और अपने वैगुण्य—दोषमें संताप भी नहीं करता है एवं किसी वस्तुको चाहता भी नहीं है। वह अपने समान ही सब भूतोंमें सुख-दुःख देखता है। ऐसा ज्ञाननिष्ठ योगी 'चतुर्विधा भजन्ते माम्'से कही हुई परा—ज्ञानलक्षणा चौथी भक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

उसके पश्चात् उस ज्ञानलक्षणा चौथी पराभक्तिके द्वारा मुझको, मैं 'यावान्'—उपाधिकृत विस्तार-भेदसे जितना हूँ, और 'यश्चास्मि'—उपाधिरहित, उत्तम, आकाशवत् व्याप्त, अद्वैत, अजर, अमर, अभय, निधनरहित एक परमात्मतत्त्व जो मैं हूँ सो तत्त्वसे जान जाता है। ऐसा तत्त्वसे जानकर उसके अनन्तर ही वह मुझमें प्रवेश कर जाता है। यहाँ ज्ञान और प्रवेश—ये दोनों भिन्न-भिन्न विवक्षित नहीं हैं; बल्कि फलान्तरका अभाव होनेसे ज्ञानमात्रकी ही विवक्षा है। पहले कहा भी गया है—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादि ।

ऊपर कहा गया कि पराभक्तिसे मुझको जानता है और पराभक्तिका नाम ही ज्ञाननिष्ठा है।

प्र०—ज्ञानसे पदार्थका बोध हो जाता है, फिर ज्ञाननिष्ठा याने ज्ञानकी आवृत्तिरूप निष्ठासे मुझको जानता है—यह कथन अनुपयुक्त है।

उ०—नहीं, ज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु शुद्ध बुद्धि है और परिपाकमें सहकारी कारण अमानित्वादि हैं। इस प्रकार शुद्ध परिपक्व बुद्धिमें शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न ब्रह्मात्मैक्य-बुद्धिसे समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है। भेदबुद्धिके नष्ट होनेपर क्षेत्रज्ञ और ईश्वरमें एकत्व-ज्ञान होता है, उस एकत्व-ज्ञानमें निश्चयपूर्वक स्थिति पाना ही ज्ञाननिष्ठा है, यही ज्ञाननिष्ठा पराभक्ति है—इसी बातको 'चतुर्विधा भजन्ते' में आर्तादि तीनों भक्तोंकी अपेक्षा चतुर्थ ज्ञानी भक्तकी श्रेष्ठता बताकर सूचित किया है। अतः ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिसे मुझे जानता है—यह कहना ठीक ही है ॥ ५५ ॥

अपने कर्मोंसे भगवान्‌की अर्चनारूप भक्तियोगकी सिद्धि (फल) ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता है, यही ज्ञाननिष्ठा अन्तमें मोक्ष देनेवाली होती है। अब शास्त्रके उपसंहार-प्रकरणमें शास्त्रार्थके दृढ़ निश्चय करनेके लिये उस भगवद्भक्तियोगकी स्तुति करते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मैं वासुदेव ईश्वर ही पूर्ण आश्रय हूँ जिसका, ऐसा सर्वात्मभावको मुझमें अर्पण करनेवाला मेरा भक्त सदा सब कर्मोंको करता हुआ याने प्रतिषिद्ध कर्मोंको करता हुआ भी मुझ ईश्वरके प्रसादसे शाश्वत—नित्य, अव्यय वैष्णव पदको प्राप्त कर लेता है।

ऊपर कहा गया कि 'प्रतिषिद्ध कर्मोंको करता हुआ भी' इसका अभिप्राय यह है कि सर्वात्मभावसे भगवत्-शरणापन्न पुरुष पाप करता ही नहीं। यदि प्रारब्धवश उससे कोई पाप बन जाय तो भगवान्‌की कृपासे वह भी नष्ट हो जाता है। यही 'अपि' शब्द कहनेका तात्पर्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥

(स्क० ११, अ० ५, श्लो० ४२)

'त्याग किया है देहादिमें एवं देवान्तरोंमें भाव—वस्तुका अस्तित्व जिसने अर्थात् भगवद्रूपसे अन्य किसी वस्तुमें आस्था नहीं है जिसको, ऐसे भगवच्चरणारविन्दका भजन करनेवाले प्रिय भक्तके द्वारा यद्यपि विकर्म—निषिद्ध कर्म करना सम्भव नहीं होता, तथापि कथंचित् प्रारब्धवश विकर्म उत्पन्न हो जाय तो उसको हृदयमें संनिविष्ट परमेश्वर भगवान् नाश कर देते हैं'॥ ५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

इसलिये विवेकबुद्धिसे दृष्ट एवं अदृष्ट फल देनेवाले समस्त कर्मोंको मुझ ईश्वरमें समर्पण करके एवं मुझ वासुदेवके परायण

होकर तथा मुझमें बुद्धिको समाहित करनारूप बुद्धियोगका आश्रय लेकर, निरन्तर मुझमें ही चित्त लगानेवाले हो जाओ ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मुझमें चित्त लगानेपर मेरे प्रसादसे सम्पूर्ण कठिनाइयोंको याने अविद्याजनित दुस्तर संसारसागरको तर जाओगे। यदि अहंकारसे मेरे वचनको नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे ॥५८॥

तुमको यह भी नहीं समझना चाहिये कि मैं स्वतन्त्र हूँ, दूसरेका कहना क्यों मानूँ ?--

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

यदि अहंकारका आश्रय लेकर यह मानते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो यह तुम्हारा निश्चय मिथ्या है, तुम्हारी प्रकृति (क्षत्रिय-स्वभाव) तुमको युद्धमें लगा देगी ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

क्योंकि हे कौन्तेय ! तुम स्वभावसे उत्पन्न शौर्यादि अपने कर्मोंमें दृढ़ बँधे हुए हो। अतः तुम जिस कर्मको मोह--अविवेकसे करना नहीं चाहते, उसी कर्मको अवश होकर करोगे ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन! सब भूतोंके हृदयमें शासन करनेवाला ईश्वर स्थित है, और सब भूतोंको यन्त्रारूढ़ (कठपुतली) के समान मायासे भ्रमण कराता है। जैसे यन्त्रपर आरूढ़ कठपुतलियोंको मायावी नट घुमाता हुआ स्वयं स्थित रहता है वैसे ही सबमें स्थित ईश्वर सबको मायासे घुमाता रहता है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत! सर्वभावसे संसारके समस्त दुःखोंका हरण करनेवाले उस ईश्वरके शरणमें जाओ। उसी ईश्वरकी कृपासे परा शान्ति (परम उपरति) को और शाश्वत (नित्य) परम पदको प्राप्त करोगे ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

गुह्यसे भी गुह्य यह रहस्ययुक्त ज्ञान मुझ ईश्वरके द्वारा तेरे लिये कहा गया; पूर्णरूपसे इसको विचारकर जैसी इच्छा हो वैसा करो ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

फिर भी सब गुह्योंमें गुह्य रहस्य, उत्तम मेरे वचन सुनो याने पहले अनेक बार कथित भी वचन पुनः सुनो। मैं न भयसे न लोभसे कहूँगा, किन्तु तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, अतः तेरा हित— परमज्ञान-प्राप्तिका साधन कहूँगा ॥ ६४ ॥

वह क्या है?—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

मुझमें चित्त लगाओ, मेरा ही भजन करो, मेरा ही पूजन करो और मुझको ही नमस्कार करो। इस प्रकार साध्य-साधनरूप समस्त प्रयोजन मुझमें समर्पित करनेसे मुझको ही प्राप्त कर लोगे—यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो।

इस प्रकार भगवान्‌को सत्यप्रतिज्ञ जानकर एवं भगवान्‌की भक्तिका फल मोक्ष अवश्य होगा ऐसा जानकर जीवको भगवद्‌-शरणापन्न हो जाना चाहिये ॥ ६५ ॥

कर्मयोगनिष्ठाके परम रहस्य ईश्वर-शरणागतिका उपसंहार करके अब कर्मयोगनिष्ठाका सम्यक् दर्शनरूप फल, जो समस्त वेदान्तोंमें कहा हुआ है, बतलाते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सब धर्मोंको त्यागकर; यहाँ नैष्कर्म्य कहना है अतः 'धर्म' शब्दसे अधर्मका भी ग्रहण कर लेना चाहिये, 'नाविरतो दुश्चरितात्', 'त्यज धर्ममधर्मं च' इत्यादि इसमें प्रमाण हैं; मुझको गर्भ-जन्म-जरादिवर्जित सर्वात्मा ईश्वर जानकर मेरे शरणमें आ जाओ, मैं तुमको धर्माधर्मबन्धनसे छुड़ा दूँगा—आत्मस्वरूप प्रकाशसे अज्ञानरूप अन्धकारका नाश कर दूँगा, शोक मत करो।

उपसंहार

इस गीताशास्त्रमें परम निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन क्या है, ज्ञान अथवा कर्म या दोनों मिला हुआ—ज्ञान-कर्मका समुच्चय ? यह शंका क्यों ? इसका कारण यह है 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इत्यादि वाक्य ज्ञानसे निःश्रेयस—मोक्षकी प्राप्ति दिखला रहे हैं एवं 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इत्यादि वाक्य कर्मकी अवश्यकर्त्तव्यता बतला रहे हैं। इस प्रकार ज्ञान, कर्म दोनोंका उपदेश किया गया है, अतः यह संशय होता है कि दोनोंके समुच्चयसे ही मोक्ष होगा या एकसे ?

इस मीमांसा (विचार)का फल क्या होगा ? फल यह होगा कि तीनोंमें किसी एक साधनसे ही मोक्ष निश्चय होनेसे उसी साधनका अवलम्बन लेंगे। इसलिये विस्तारसे निर्णय कर लेना चाहिये।

केवल आत्मज्ञान ही निःश्रेयस (मोक्ष)का साधन है, क्योंकि नाना भेद-प्रतीतिका निवृत्त होना ही मोक्ष है। आत्मामें अनादि अविद्यासे क्रिया, कारक और फलकी प्रतीति हो रही है। मेरा यह कर्म है, मैं करता हूँ, अमुक फल-प्राप्तिके लिये अमुक कर्म करूँगा इत्यादि भेद अनादि कालसे आत्मामें प्रतीत हो रहे हैं। इस अविद्याका निवर्तक एकमात्र एकात्मज्ञान ही है। मैं अकर्ता, क्रियारहित, फलसे रहित आत्मा हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है—यह आत्मज्ञान ही भेदबुद्धिका निवर्तक है। यह ज्ञान उत्पन्न होते ही कर्ममें प्रवृत्तिकी हेतु भेदबुद्धि नाश हो जाती है। निःश्रेयस (मोक्ष) अकार्य है अतः इसका साधन कर्म नहीं

हो सकता है, क्योंकि कोई भी नित्य वस्तु कर्म या ज्ञानसे उत्पन्न नहीं की जा सकती है।

प्र०—नित्य वस्तु कर्म या ज्ञानसे नहीं उत्पन्न होती, तब तो ज्ञान भी व्यर्थ ही होगा ?

उ०—नहीं, क्योंकि ज्ञान तो केवल अविद्याका निवर्तक होता है। जैसे दीपकका प्रकाश रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिको एवं तम (अन्धकार) को ही निवृत्त करता है, यही प्रकाशका फल है, वैसे ही ज्ञान भी आत्मामें अनादि अविद्यासे कल्पित कर्तृत्व-भोक्तृत्वको निवृत्त करके, शुद्ध आत्मतत्वका बोध कराके अपने आप शान्त हो जाता है। लोकमें भी यह प्रसिद्ध है कि तम (अन्धकार) को अन्धकार निवृत्त नहीं कर सकता, अतः ज्ञान ही मोक्षका साधन है।

प्र०—यह ठीक नहीं, कैवल्य (मोक्ष) नित्य है अतः नित्य कर्मोंके न करनेसे प्रत्यवाय होता है यह शास्त्रोंमें कहा गया है। यदि कहें कि ऐसी बात मानी जाय तब तो कर्मोंसे कभी छुटकारा मिल ही नहीं सकता। अतः अनिर्मोक्षका प्रसंग होगा ? सो नहीं है। मोक्ष नित्य है, नित्यकर्मोंके आचरणसे पाप नहीं होगा एवं निषिद्ध कर्मोंको न करनेसे अनिष्ट शरीर नहीं मिलेगा तथा काम्य कर्मोंका त्याग करनेसे इष्ट (देवादि) शरीर नहीं मिलेगा और प्रारब्ध भोगसे शरीर नष्ट होनेपर देहान्तर-प्राप्तिमें कोई कारण नहीं रहनेसे एवं शरीरादिमें आसक्ति न होनेपर अनायास स्वरूपस्थितिरूप कैवल्य प्राप्त हो जायगा।

उ०—यह ठीक है किन्तु अतिक्रान्त (बीते हुए) अनेक जन्मोंके किये हुए सञ्चित कर्म, जिनका फल अभी आरम्भ नहीं हुआ है, फल भोगे विना नाश नहीं होंगे तो पुनः जन्म होगा ही।

प्र०— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य कर्मोंके अनुष्ठानमें परिश्रमरूप दुःखके उपभोगसे उन सञ्चित कर्मोंका फलभोग समाप्त हो जायगा, अथवा प्रायश्चित्त कर्मके समान नित्य कर्मोंसे भी जन्मान्तरकृत पापका नाश हो जायगा और प्रारब्ध कर्मोंका नाश तो भोगसे हो ही जायगा, तब अनायास मोक्ष हो जायगा।

उ०—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'आत्माको जानकर ही मनुष्य मृत्युको पार करता है, मोक्षका दूसरा मार्ग नहीं है।' ज्ञानसे अन्य मोक्षका मार्ग नहीं है—यह अन्य श्रुति भी कहती है; जैसे चमड़ेके समान आकाशका समेटना संभव नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानके बिना कैवल्य भी असंभव ही है।

दूसरी बात यह है कि जन्मान्तरकृत पुण्य एवं पापोंका क्षय होना भी संभव नहीं है। और पुण्य-पापके कारण होनेवाले राग-द्वेष भी आत्मज्ञानके बिना नष्ट नहीं हो सकते। एवं नित्य कर्मोंका पुण्यलोक फल भी श्रुतियोंमें सुना जाता है—'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः' इत्यादि।

तथा जो यह कहा गया है कि नित्य कर्मके अनुष्ठानसे जो श्रमरूप दुःख है वह पूर्वजन्मान्तरकृत पापोंका फल है, उनका दूसरा कुछ फल नहीं है तथा उनका विधान जीवन-निर्वाहके लिये किया है—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जो कर्म फल देनेको प्रवृत्त नहीं हुए हैं उन कर्मोंका फल नित्य कर्मोंके अनुष्ठानसे श्रमरूप दुःख है यह कहना अयुक्त ही है।

यदि ऐसा मान भी लें तो अग्निहोत्रादि कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गादि भोगनेके लिये प्राप्त शरीरमें नरकके हेतुभूत कर्मोंके

फल भोगना भी विरुद्ध नहीं होगा। भाव यह कि जिस कर्म-फलको भोगनेके लिये जो शरीर मिलता है उस शरीरसे वही कर्मफल भोगा जाता है, अन्य कर्मोंका फल नहीं।

दूसरी बात यह है कि नित्यकर्मानुष्ठानसे आयासरूप दुःख सामान्य दुःख है और अनेक जन्मोंके भिन्न-भिन्न पाप-कर्मोंके फल भिन्न-भिन्न दुःख होते हैं, फिर नित्यकर्मानुष्ठानका श्रम सब पापोंका फल कैसे हो सकता है और उसको सब कर्मोंका फल मान लें, तब तो शीत-उष्ण और ज्वरादि अनेक प्रकारके दुःखोंको पापका फल नहीं कहा जा सकता है; और नित्यकर्मा-नुष्ठानके श्रमरूप दुःखको पूर्वजन्मकृत दुरितका फल कहना प्रकरणविरुद्ध भी है।

जो जन्मान्तरकृत दुरित फल देनेके लिये उद्भूत नहीं हुए हैं उनका नाश नहीं हो सकता—यह प्रसंग (प्रकरण) है। उनमें उद्भूत कर्मोंका फल नित्य कर्मोंका श्रमरूप दुःख फल आपने कहा, किन्तु अनुद्भूत कर्मोंका फल क्या होगा यह नहीं कहा।

यदि समस्त (अनन्त) पूर्वजन्मकृत दुरितका फल नित्य-कर्मानुष्ठानके श्रमको मानें, तब तो नित्यकर्मानुष्ठानका श्रम (दुःख) ही उनका फल है यह विशेषण अयुक्त होगा। तथा नित्यकर्मानुष्ठानका विधान करनेवाले शास्त्र अनर्थक होंगे, क्योंकि फल देनेके लिये उद्भूत दुरित कर्मोंका तो उपभोगसे ही क्षय होगा, उनके लिये नित्यकर्मका विधान करनेकी क्या आवश्यकता है।

यथोक्त वचनोंसे यही निश्चय होता है कि नित्य अग्नि-होत्रादि कर्मके अनुष्ठानसे होनेवाले श्रमरूप दुःख अनन्त

जन्मोंमें कृत कर्मोंके फल नहीं हैं, नित्य अग्निहोत्रादिके अदृष्ट फल स्वर्गादि हैं। एवं अनन्त जन्मोंमें अविद्याकृत शुभाशुभ अशेष कर्मोंका नाश विद्या (ज्ञान) से ही होता है; कर्मसे कर्मका नाश नहीं होता, जैसे तमसे तमका विनाश नहीं होता।

सभी कामनाका मूल है अविद्या। अविद्या (अज्ञान) से कामना होती है और कामना होनेपर कर्ममें प्रवृत्ति होती है—यह सिद्ध हो चुका है। अतः अज्ञानियोंका विषय है कर्म और ज्ञानीका विषय है सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा। 'उभौ तौ न विजानीतः', 'वेदाविनाशिनं नित्यम्', 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्', 'अज्ञानां कर्मसंङ्गिनाम्', 'तत्त्ववित्तु महाबाहो', 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते', 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते', 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'—इन सब वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि मैं कर्म करता हूँ ऐसा अज्ञानी ही मानता है, ज्ञानी नहीं; ज्ञानी तो अपनेको असंग मानता है। इसीलिये 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्' इस श्लोकमें आरुरुक्षुके लिये कर्म और आरूढके लिये शम कहा गया है और यह भी कहा गया है कि 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' 'ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है—ऐसा मैं मानता हूँ।'

सकाम कर्मी अज्ञ गतागत (आवागमन) को प्राप्त करते हैं। और जो अनन्य भक्त नित्ययुक्त होकर आकाशकल्प, निष्पाप, आत्मस्वरूप मुझ परमात्माकी उपासना करते हैं उनको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'—'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मी भगवान्को नहीं प्राप्त होते।

भगवदर्थ कर्म करनेवाले युक्ततम भी कर्मी अज्ञानी ही हैं, वे चित्त-समाधानसे लेकर कर्मफलत्यागपर्यन्त उत्तरोत्तर हीन साधनोंसे युक्त होते हैं। और जो अनिर्देश्य अक्षरके उपासक हैं, वे 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि द्वादशाध्याय-समाप्तिपर्यन्त कहे हुए साधनोंसे युक्त होते हैं।

'अधिष्ठानं तथा कर्ता' इत्यादिसे जो समस्त कर्मोंके पाँच कारण कहे गये हैं, उन सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करनेवाले, अपने आत्मैकत्व और अकर्तृत्वको जाननेवाले, परा ज्ञाननिष्ठामें स्थित, भगवत्तत्त्वके जाननेवाले परमहंस परिव्राजकको पहले कहे गये इष्ट, अनिष्ट और मिश्र कर्मोंका फल नहीं मिलता। इनसे अन्य जो संन्यास नहीं करनेवाले कर्मपरायण अज्ञानी हैं, उनको कर्मफल अवश्य भोगना पड़ता है। यही गीताशास्त्रोक्त कर्तव्या-कर्तव्यका विभाग है।

ऊपर कहे गये प्रमाण और युक्तिसे यही निश्चय हुआ कि यह संसारभ्रम भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्तक है—मिथ्या ज्ञानके कारण प्रतीत हो रहा है, यथार्थ नहीं है। परमार्थ सम्यक् दर्शन याने पूर्ण ज्ञान होनेपर इस संसारभ्रमकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है॥ ६६॥

समस्त गीताशास्त्रके अर्थका उपसंहार करके पुनः विशेषरूपसे शास्त्रके अर्थको दृढ़ करनेके लिये अगले श्लोकमें संक्षेपसे उपसंहार करके शास्त्र-सम्प्रदायकी विधि कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

यह गीताशास्त्र तुम्हारे हित—संसारके विच्छेदन (नाश) करनेके लिये कहा है। इसको तपसे हीनको नहीं कहना चाहिये,

गुरु और देवतामें भक्तिसे हीन तपस्वीको भी कभी नहीं कहना चाहिये, भक्त और तपस्वी होनेपर भी गुरु-शुश्रूषासे रहित तथा मुझ परमेश्वरमें दोषदृष्टि करनेवालेको नहीं कहना चाहिये अर्थात् भगवद्भक्त, तपस्वी, गुरुसेवक और दोषदृष्टि-रहितको ही यह गीताशास्त्र सुनाना चाहिये ॥ ६७ ॥

अब सम्प्रदायकर्ताका फल कहते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो केशव एवं अर्जुनके संवादरूप अत्यन्त गोप्य मोक्षके साधन इस गीताको मेरे भक्तोंके प्रति केवल ग्रन्थरूपसे अथवा अर्थरूपसे कथन करेगा, वह मुझमें पराभक्ति करके मुझको प्राप्त कर लेगा इसमें संशय नहीं करना चाहिये। यहाँ 'भक्ति' शब्दकी पुनरावृत्तिसे यह प्रतीत होता है कि केवल भक्तिमात्रसे शास्त्रप्रदानका पात्र हो जाता है ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

मनुष्योंमें गीताशास्त्रका सम्प्रदाय चलानेवाले मनुष्यसे अधिक मेरा प्रिय कर्म करनेवाला कोई नहीं है और भविष्य कालमें भी भूलोकमें उससे बढ़कर मेरा प्रियतर दूसरा कोई नहीं होगा ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

हम (कृष्ण एवं अर्जुन) दोनोंके संवादरूप धर्मयुक्त ग्रन्थको जो मनुष्य पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा निश्चय है। यहाँ विधियज्ञ, जपयज्ञ, उपांशुयज्ञ और मानसयज्ञ—इन यज्ञोंमें गीताध्ययनरूप ज्ञानयज्ञ मानस होनेसे श्रेष्ठतम है—'विधिजपोपांशुमानसानां यज्ञानां ज्ञानयज्ञो मानसत्वाद् विशिष्टतमम्'—यह फल-विधि है, अतः ज्ञानयज्ञके तुल्य इसका फल होता है ॥ ७० ॥

श्रोताको यह फल मिलता है—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

श्रद्धावान् दोषदृष्टिसे रहित जो मनुष्य इस ग्रन्थको केवल सुनता है, वह भी सब पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकर्म करनेवालोंके शुभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'सोऽपि' में 'अपि' शब्द का यह अर्थ है कि केवल मूल सुननेसे पाप नाश होता है तो अर्थसहित सुननेपर तो कहना ही क्या है ॥ ७१ ॥

शिष्यने शास्त्रके अर्थको समझा कि नहीं, यह जाननेके लिये भगवान्का अगले श्लोकमें प्रश्न है। यदि नहीं समझा है तो पुनः उपायान्तरसे समझाऊँगा—यह उनका अभिप्राय है। उपायान्तरसे शिष्यका बोध कराके शिष्यको कृतार्थ करना चाहिये—यह आचार्यका कर्तव्य दिखाया गया है—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या मुझसे कहे हुए शास्त्रको तुमने एकाग्रचित्तसे सुनकर बुद्धिमें निश्चय किया किं वा प्रमादितम्'—अथवा सुनकर भी नहीं समझा ? हे धनंजय ! क्या अज्ञानके कारण होनेवाला मोह—स्वाभाविक चित्तका मूढ़भाव नष्ट हुआ ? जिसके उद्देश्यसे तेरा श्रवण-विषयक और मेरा कथन-विषयक यह परिश्रम हुआ है ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोला—हे अच्युत ! अज्ञानसे उत्पन्न, अनर्थका कारण, समुद्रके समान दुस्तर मेरा मोह नष्ट हो गया । आत्म-तत्त्वविषयक स्मृति भी प्राप्त हुई तथा आपकी कृपासे समस्त संदेह-ग्रन्थियोंका विप्रमोक्ष हो गया अर्थात् संशय नष्ट हो गया । आपकी कृपासे मैं कृतार्थ हो गया । अब मैं आपके शासनमें स्थित हूँ—आपका वचन मानूँगा ।

इस मोहनाशक प्रश्न और प्रतिवचनसे यह दिखाया गया कि समस्तशास्त्रका अर्थ इतना ही है—अज्ञानजनित मोहका नाश और आत्मस्वरूपकी स्मृति । यही ज्ञानका फल है । श्रुतिमें यही कहा गया है कि 'अनात्मवित् शोचामि' (छा० उ० ७।१।३) 'आत्मज्ञान न होनेसे शोक करता हूँ ।' इस प्रकार प्रश्न उठाकर आत्मज्ञानसे समस्त ग्रन्थियोंका उच्छेद होना कहा गया है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मु० उ० २ । २ । ८), एकात्म-दर्शीको शोक-मोह कहाँ—'तत्र को मोहः कः शोकः' (ई० उ० ७) इत्यादि ॥ ७३ ॥

यहाँ शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। अब कथाका सम्बन्ध दिखलाते हैं—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय बोला—राजन्! ऊपर कहे गये भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुनके अद्भुत—अत्यन्त विस्मय-कारक तथा रोमाञ्चकर संवादको मैंने सुना ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

व्यासजीके प्रसादसे उनके द्वारा दिव्यचक्षु लाभ करके इस परम गुह्य योगके विषयको योगेश्वर भगवान् कृष्णके साक्षात् कहते हुए मैंने सुना ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र! केशव और अर्जुनके इस अद्भुत, पापके नाशक, पुण्य संवादका वारंवार स्मरण करके मैं वारंवार प्रसन्न हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! भगवान् हरिके उस अत्यन्त अद्भुत विश्वरूपको बारंबार स्मरण करके मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७७ ॥

किं बहुना—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

सम्पूर्ण योगोंके बीज जिनसे उत्पन्न हुए हैं वे योगेश्वर भगवान् कृष्ण जिस पक्षमें हैं तथा जिस पक्षमें गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन हैं उन पाण्डवोंके पक्षमें ही श्री, विजय और विभूतिका विस्तार एवं अचल नीति है—यह मेरा मत है ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

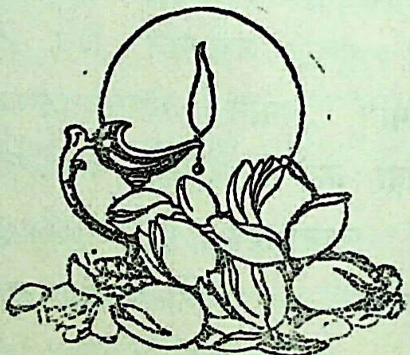
———

॥ ॐ तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ ४ ॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ५ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ६ ॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ७ ॥



श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत श्लोकोंकी अकारादिवर्णानुक्रम-सूची

[अ] ९७

[प] ३८

[ब] १७

[भ] ११

[र] ११

[ल] ४

[व] २०

आनन्दकानन प्रेस एवं गौरीशंकर प्रेस, वाराणसीमें मुद्रित ।

स्वामी अनन्तानन्दजीद्वारा लिखित पुस्तकें

१–दै न्तर त्र-विचार	मूल्य ८
२–उपनिषत्तत्त्वनिर्णय	„ १
३–आत्मानात्मविचार	मूल्य पठनमात्र
४–सुखका स्वरूप	„ „
५–जीवनका उद्देश्य	„ „

मिलनेका पता—

स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती

अन्नपूर्णा क्षेत्र

डी० २५।२९ .. दघाट, वाराणसी